समणसुत्तं

अनुवाद
पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री
मुनि श्री नथमलजी

संस्कृत-छाया-परिशोधन :
पं० बेचरदासजी दोशी

प्रकाशक :
सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी-१
संस्करण : प्रथम ५,०००
प्रकाशन तिथि : महावीर-जयन्ती
चैत्र शुक्ल १३, वीर नि० २५०१
२४ अप्रैल १९७५

मुद्रक : ज्ञानमण्डल लि०, वाराणसी

मूल्य :
साधारण रु० १०.००
सजिल्द रु० १२.००

SAMANASUTTAM
Price :
Paper-Back Rs. 10.00
Bound Rs. 12.00

प्र का श की य

'समणसुत्त' ग्रन्थ का प्रकाशन करते हुए सर्व-सेवा-सघ गौरव एव प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है।

धर्म के अनन्त रूप हैं। शब्दो मे इन रूपो को बाधा नही जा सकता। महापुरुषो तथा विचारक मनीषियो ने देश, काल, परिस्थिति के अनुसार अनन्त का अनन्तवां अश ही प्रकट किया है। महापुरुषो का दर्शन सकुचित नही होता, परन्तु अर्थग्रहण की सीमाओ से अशाभिनिवेश की नीव पडती है और इसीमे से विविध मतवादो का उद्भव हो जाता है। निष्पक्षभाव से विश्व के सब धर्मों का गहराई से अध्ययन किया जाय तो ज्ञात हो सकता है कि महापुरुषो की वाणी का अमुक-अमुक अश उस-उस देश, काल, परिस्थिति के स्तर-भेद तथा भूमिका-भेद का सूचक है। जैसे—

१ सामान्य व्यक्ति की सर्वप्रथम भूमिका चार्वाक भौतिक दर्शन की ही रहती है। क्योकि सुख की आकाक्षा सब मनुष्यो मे समान है।

२ व्यापक सुख की आकाक्षा भौतिक स्तर पर पूरी होना सभव नही है, इसका दर्शन जिन्हें हुआ, उन्होंने विश्व की व्यवस्था का स्वरूप जान लेने का प्रयास किया। विश्व-समस्या के मूल मे कुछ विशिष्ट मूल द्रव्य हैं। इन मूल द्रव्यो और उनके पारस्परिक सबधों की जानकारी पर ही व्यापक सुख निर्भर है। यही न्याय और वैशेषिक दर्शन की बुनियाद है।

३ इससे भी सुख और समाधान अपूर्ण ही रहता है, ऐसा जिनको अनुभव हुआ वे और भी गहरे उतरे। साख्य, पूर्वमीमासा और उत्तरमीमासा याने वेदान्त इसी अनुसन्धान की निष्पत्ति है। जैन तथा बौद्ध दर्शन भी इसी परम्परा मे आते हैं। इन सारे दर्शनो का सार यह है कि विश्व की विविधता तथा विभिन्नता का आधार एक ही विभु-सत्ता है।

४ इस विभु-सत्ता के प्रत्यक्ष दर्शन तथा उसे जीवन मे प्रकाशित देखने के शोध मे लगनेवाले लोगो ने योग-दर्शन को साकार किया। उसमे से निष्कर्ष यह निकला कि योगानुशासन के बिना मानव और विश्व के अस्तित्वगत सबध का न ज्ञान होगा और न जीवन-व्यवहार ही फलित होगा। इसलिए बौद्धदर्शन मे कहा गया है कि जीवन का यथार्थ दर्शन प्रज्ञा और उपाय के सामरस्य (हार्मनी) पर ही निर्भर है। चाहे जैन हो या बौद्ध, साख्य हो या वेदान्त, इन सब दार्शनिक निष्ठाओ मे योगानुशासन को ही प्राथमिक महत्त्व दिया जाता है। यही भारत की सस्कृति मे आत्मदर्शन तथा विश्वदर्शन का अनुभव-सिद्ध मार्ग कहा गया है।

इस मार्ग पर अग्रसर मानव की दृष्टि समता-रस में इतनी सहज, सूक्ष्म और तरल (फ्लेक्सिबल) हो जाती है कि सारे संघर्ष, सामरस्य, आनन्द और सौंदर्य में लीन हो जाते हैं और जीवन को विकृत करनेवाले सारे मतवाद और संघर्ष अर्थशून्य हो जाते हैं। जैन-धर्म का अनेकान्तवाद या स्याद्वाद इसीका निदर्शक है जो न केवल परमत-सहिष्णुता ही जगाता है, परस्पर विरोधी विचारों में समन्वय भी स्थापित करता है।

'समणसुत्तं' ग्रन्थ की निष्पत्ति के पीछे भगवान् महावीर की अव्यक्त और सन्त विनोबाजी की पावन व्यक्त प्रेरणा रही है। यह अपने में अपूर्व ऐतिहासिक घटना है कि भगवान् महावीर के २५ सौवें निर्वाण-महोत्सव के वर्ष में दिल्ली में इस ग्रन्थ की सर्वमान्यता के लिए संगीति का आयोजन हो सका। संगीति में सम्मिलित साधुओं, विद्वानों, श्रावकों तथा सेवकों ने हर प्रकार से अपना हार्दिक सहयोग देकर इसे सर्व-मान्यता प्रदान की। जैनधर्म के सभी सम्प्रदायों के मुनियों तथा श्रावकों का यह सम्मिलन विगत दो हजार वर्षों के पश्चात् पहली बार देखने में आया।

दिल्ली की इस ऐतिहासिक एवं समन्वयात्मक संगीति का अधिवेशन दो दिन तक चार बैठकों में सम्पन्न हुआ। चारों बैठकों की अध्यक्षता चारों आम्नायों के मुनि श्री सुशीलकुमारजी, मुनि श्री नथमलजी, मुनि श्री जनकविजयजी तथा उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्दजी ने की। चारों बैठकों को आचार्य श्री तुलसीजी, आचार्य श्री धर्मसागरजी, आचार्य विजयसमुद्रसूरिजी एवं आचार्य देशभूषणजी के आशीर्वाद प्राप्त हुए। ग्रंथ का अंतिम प्रारूप संगीति के चारों अध्यक्ष और जिनेन्द्र वर्णीजी ने तैयार किया जिसमें शुरू से अंत तक आचार्य तुलसीजी का सहयोग रहा।

इस ग्रंथ का प्रारम्भिक संकलन ब्र० जिनेन्द्र वर्णीजी ने किया है। सर्वप्रथम एक संकलन 'जैनधर्मसार' नाम से प्रकाशित किया गया। बाद में अनेक सुझावों और संशोधनों को ध्यान में रखकर दूसरा संकलन पं० दलसुखभाई मालवणिया ने किया। सन्त कानजी स्वामी की प्रेरणा से डा० हुकुमचन्दजी भारिल्ल ने संकलन के लिए काफी उपयुक्त गाथाएं सुझायीं। उदयपुर के डा० कमलचन्दजी सोगानी ने गहराई से अध्ययन करके अनेक सुझाव दिये। सबका अवलोकन करके श्री वर्णीजी ने तीसरा संकलन तैयार किया जो 'जिणधम्म' नाम से संगीति में विचारार्थ रखा गया। अब जो संकलन प्रकाशित हो रहा है, वह अंतिम एवं सर्वमान्य है। इस संकलन को परिपूर्ण तथा परिमार्जित बनाने में पं० दलसुखभाई मालवणिया तथा मुनिश्री नथमलजी का विशेष हाथ रहा है। डा० ए० एन० उपाध्ये, डा० दरबारीलालजी कोठिया आदि विद्वानों का भी सहयोग मिला है। गाथाओं की शुद्धि में पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, पं० बेचरदासजी दोशी और मुनि नथमलजी के श्रम को भुलाया नहीं जा सकता। संस्कृत छाया का संशोधन और परिमार्जन पं० बेचरदासजी ने एक-एक शब्द को जांच-परखकर किया है। हिन्दी अनुवाद पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री तथा मुनि श्री नथमलजी ने किया है। अनुवाद सरल मूलानुगामी है।

विषय की पूर्वापर कड़ी को जोड़े रखने के लिए अनुवाद में कहीं-कहीं कोष्ठकों में विशिष्ट शब्द दिये गये हैं। इन सब विद्वानों के सहयोग के प्रति हम हृदय से आभारी हैं।

संगीति का द्वि दिवसीय अधिवेशन अणुव्रत विहार तथा जैन बालाश्रम में आयोजित था। अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसीजी तथा उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्दजी की ओर से प्रारम्भ से ही इस कार्य में प्रोत्साहन मिलता रहा है। इनके साथ-साथ दोनों संस्थाओं के व्यवस्थापकों तथा कार्यकर्ताओं ने भी जो आत्मीय सहयोग दिया उसके लिए सर्व-सेवा-संघ आभारी है।

श्रावक-शिरोमणि साहू शान्तिप्रसादजी जैन तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमारानी जैन तथा श्री प्रभुदयाल जी डाबड़ीवाला के भी हम विशेष कृतज्ञ हैं जिन्होंने संगीति को सफल बनाने में हार्दिक सहयोग दिया।

उपाध्याय कविरत्न अमरमुनिजी, मुनि श्री सतबालजी, कानजी स्वामी, आचार्य श्री आनन्दऋषिजी, मुनि श्री यशोविजय जी आदि सन्तों ने भी इस मंगल प्रयास का पूरा समर्थन किया, अनेक सुझाव दिये और प्रेरणा दी जिससे हमें बल मिला है।

ग्रन्थ के प्रचार में पहल करनेवालों में भारत जैन महामण्डल बम्बई के महामंत्री श्री रिषभदासजी राका तथा हैदराबाद के प्रसिद्ध सर्वोदयी मित्र श्री विरधीचन्दजी चौधरी का विशेष सहयोग मिला है। दोनों सज्जनों ने अग्रिम राशि भेजकर ग्रंथ के प्रकाशन को सुलभ बना दिया है।

भाई श्री राधाकृष्णजी बजाज ने तो प्रारंभ से ही इस कार्य को अपना माना है। श्री जमनालालजी जैन का तो प्रारंभ से ही सभी कार्यों में बराबर सहयोग मिलता रहा है। श्री मानव मुनिजी का भी सहयोग मिला है। ये सब सर्व-सेवा-संघ के अभिन्न अंग हैं। अपनों के प्रति आभार कैसे माना जाय।

ब्र० जिनेन्द्र वर्णीजी का उल्लेख किये बिना रहा नहीं जाता। बाबा की प्रेरणा उन्हें स्पर्श कर गयी और वे पल-पल इस कार्य में जुट गये। कृश और अस्वस्थ काया में भी सजग एवं सशक्त आत्मा के प्रकाश में आपने यह दायित्व हँसते-हँसते निभाया। वे नहीं चाहते कि कहीं उनका नाम टंकित किया जाय, लेकिन जिसकी सुगंधि भीतर से फूट रही है, फैल रही है, उसे कौन रोक सकता है। हम कौन होते हैं, उनका आभार व्यक्त करने वाले! सब प्रभु की कृपा है।

वाराणसी के पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान तथा स्याद्वाद जैन महा-विद्यालय ने सैंकड़ों ग्रंथों की सुविधा प्रदान की है। ज्ञानमण्डल यंत्रालय ने हमारी प्रार्थना पर ध्यान देकर ग्रंथ का मुद्रण शीघ्रातिशीघ्र कर देने का प्रयास किया है।

प्रसन्नता की बात है कि यज्ञ प्रकाशन समिति, बड़ौदा की ओर से ग्रंथ का गुजराती संस्करण शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है। महावीर-निर्वाण महोत्सव की राष्ट्रीय समिति

ने अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कराना तय किया है। अन्य भाषाओं में भी इसके अनुवाद प्रकाशित करके यह ग्रंथ घर-घर पहुँचाने का प्रयास होना चाहिए। ग्रंथ का प्रकाशनाधिकार तो जैन धर्मानुयायी समस्त सम्प्रदायों का सम्मिलितरूपेण है। किसी भी भाषा में प्रकाशन के लिए सर्व-सेवा-संघ इन सम्प्रदायों की अनुकूलता पर अपनी अनुमति दे सकेगा।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस संपूर्ण कार्य के पीछे प्रभु-प्रवाह, काल-प्रवाह और समाज-प्रवाह की अनुकूलता मिली, जिससे समणसुत्तं ग्रंथ की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हुई। भगवान् महावीर की २५ सौवीं निर्वाण-संवत्सरी के उपलक्ष्य में यह सर्वमान्य ग्रन्थ सबके पास पहुँचे, यही मंगल भावना है।

अन्त में सुधी पाठकों तथा विद्वानों से अनुरोध है कि ग्रंथ में जहाँ भी भूल या अशुद्धि आदि दिखाई दे, उसकी सूचना शीघ्र देने की कृपा करें, ताकि आगामी संस्करण में उसका परिमार्जन किया जा सके।

महावीर-जयन्ती
चैत्र शुद्ध १३ वीर नि० सं० २५०१
२४ अप्रैल १९७५

कृष्णराज मेहता
संचालक
सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

संगीति में प्रमुख पंडित, विद्वान् तथा श्रावकगण

बायें से पहली पंक्ति-सर्वश्री के० भुजबली शास्त्री, मानव मुनि। दूसरी पंक्ति–ए० एन० उपाध्ये, जमनालाल जैन, यशपाल जैन, शान्तिलाल व० सेठ, राधाकृष्ण बजाज, पं० कैलाशचन्दजी शास्त्री, खुशालचन्द्र गोरावाला, कृष्णराज मेहता। तीसरी पंक्ति–पं० सुमेरचन्द्र दिवाकर, डा० दरबारीलाल कोठिया, अगरचन्द नाहटा तथा अन्य विद्वान् श्रावक आदि।

सभी आम्नायों के प्रमुख जैन आचार्य तथा मुनिगण

बायें से—ब्र० श्री जिनेन्द्र वर्णीजी, आचार्य श्री धर्मसागरजी उपाध्याय, मुनि श्री विद्यानन्दजी, मुनि श्री सुशीलकुमारजी, मुनि श्री नथमलजी, आचार्य श्री तुलसीजी, आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरिजी तथा अन्य मुनिगण।

मुनियों का पत्र विनोबा के नाम

ANUVRAT VIHAR — २१०, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग,
वीर-निर्वाण तिथि २४-१-२५०१ — नयी दिल्ली, दिनांक ७-१२-'७४

भद्रपरिणामी, धर्मानुरागी श्री आचार्य विनोबाजी,

आपके समभावपूर्ण चिन्तन और सामयिक सुझाव को ध्यान में रखकर 'जैन-धर्म-सार' और उसका नया रूप 'जिणधम्म' की सकलना हुई, उसमें श्री जिनेन्द्रकुमार वर्णीजी और अनेक विद्वानों का योग रहा। सर्व-सेवा-सघ तथा श्री राधाकृष्ण बजाज के अथक परिश्रम और प्रयत्न से सगीति की समायोजना हुई। सगीति में भाग लेनेवाले सभी आचार्यों, मुनियों और विद्वानों ने आपके चिन्तन का अनुमोदन किया और समग्र जैन-समाज सम्मत 'समणसुत्त' नामक एक ग्रन्थ की निष्पत्ति हुई, जो भगवान् महावीर के २५ सौवें निर्वाण-वर्ष के अवसर पर एक बडी उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया गया। दिनांक २९-३० नवम्बर १९७४ को सगीति हुई, जिसमें ग्रन्थ का पारायण किया गया। आचार्यों, मुनियों और विद्वानों के परामर्श, समीक्षाएँ और समालोचनात्मक दृष्टिकोण प्राप्त हुए। अन्त में ग्रन्थ के परिशोधन का भार मुनियों पर छोडा गया और वर्णीजी का योग साथ में रखा गया।

एक सप्ताह की अवधि में मुनियों ने बार-बार बैठकर चिन्तनपूर्वक ग्रन्थ का परिशोधन किया। इसमें हमें पूरा सन्तोष हुआ है। अब हम चाहते हैं कि इस ग्रन्थ का आप गहराई से निरीक्षण करें और धम्मपद की भाँति इसके क्रम की योजना करें। और भी जो सुझाव हों, वे आप दें। हम सबको इससे बडी प्रसन्नता होगी।

सगीति की विभिन्न बैठकों के अध्यक्षगण

विद्यानन्दमुनि
-मुनिश्री विद्यानन्दजी-

मुनि सुशील कुमार
- मुनिश्री सुशीलकुमारजी

मुनि जनक विजय
- मुनिश्री जनकविजयजी-

मुनि नथमल
- मुनिश्री नथमलजी -

जिनेन्द्र वर्णी
जिनेन्द्रवर्णीजी,-
ग्रन्थ संकलनकर्ता

राम हरि
राम हरि
राम हरि 12 · 12 · 1974
हस्ताक्षर श्री विनोबाजी

समाधान

(विनोबा)

मेरे जीवन मे मुझे अनेक समाधान प्राप्त हुए है । उसमे आखिरी, अन्तिम समाधान, जो शायद सर्वोत्तम समाधान है, इसी साल प्राप्त हुआ । मैने कई दफा जैनो से प्रार्थना की थी कि जैसे वैदिक धर्म का सार गीता मे सात सौ श्लोको मे मिल गया है, वौद्धो का धम्मपद मे मिल गया है, जिसके कारण ढाई हजार साल के वाद भी बुद्ध का धर्म लोगो को मालूम होता है, वैसे जैनो का होना चाहिए । यह जैनो के लिए मुश्किल वात थी, इसलिए कि उनके अनेक पन्थ है और ग्रन्थ भी अनेक है । जैसे वाइविल है या कुर्आन है, कितना भी वडा हो, एक ही है । लेकिन जैनो मे श्वेताम्वर, दिगम्वर ये दो है, उसके अलावा तेरापन्थी, स्थानकवासी ऐसे चार मुख्य पन्थ तथा दूसरे भी पन्थ है । और ग्रन्थ तो वीस-पचीस है । मै वार-वार उनको कहता रहा कि आप सव लोग, मुनिजन, इकट्ठा होकर चर्चा करो और जैनो का एक उत्तम, सर्वमान्य धर्मसार पेश करो । आखिर वर्णीजी नाम का एक 'वेवकूफ' निकला और वावा की वात उसको जँच गयी । वे अध्ययनशील है, उन्होने वहुत मेहनत कर जैन-परिभाषा का एक कोश भी लिखा है। उन्होंने . जैन-धर्म-सार नाम की एक किताव प्रकाशित की, उसकी हजार प्रतियाँ निकाली और जैन-समाज मे विद्वानो के पास और जैन-समाज के वाहर के विद्वानो के पास भी भेज दी । विद्वानो के सुझावो पर से कुछ गाथाएँ हटाना, कुछ जोडना, यह सारा करके 'जिणधम्म' किताव प्रकाशित की । फिर उस पर चर्चा करने के लिए वावा के आग्रह से एक सगीति वैठी, उसमे मुनि, आचार्य और दूसरे विद्वान् , श्रावक मिलकर लगभग तीन सौ लोग इकट्ठे हुए । वार-वार चर्चा करके फिर उसका नाम भी वदला, रूप भी वदला, आखिर सर्वानुमति से 'श्रमणसूक्तम्'—जिसे अर्धमागधी मे 'समणसुत्त' कहते है, वना । उसमे ७५६ गाथाएँ है । ७ का आँकडा जैनो को वहुत प्रिय है । ७ और १०८ को गुणा करो तो ७५६ वनता है । सर्वसम्मति से इतनी गाथाएँ ली ।

और तय किया कि चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को वर्धमान-जयन्ती आयेगी, जो इस साल २४ अप्रैल को पडती है, उस दिन वह ग्रन्थ अत्यन्त शुद्ध रीति से प्रकाशित किया जायगा। जयन्ती के दिन जैन-धर्म-सार, जिसका नाम 'समणसुत्त' है, सारे भारत को मिलेगा। और आगे के लिए जब तक जैन धर्म मौजूद है, तब तक सारे जैन लोग और दूसरे धर्म के लोग भी जब तक उनके धर्म वैदिक, बौद्ध इत्यादि जीवित रहेंगे तब तक 'जैन-धर्म-सार' पढते रहेंगे। एक बहुत बडा कार्य हुआ है, जो हजार, पन्द्रह सौ साल मे हुआ नही था। उसका निमित्तमात्र बाबा बना, लेकिन बाबा को पूरा विश्वास है कि यह भगवान् महावीर की कृपा है।

मै कबूल करता हूँ कि मुझ पर गीता का गहरा असर है। उस गीता को छोडकर महावीर से बढकर किसीका असर मेरे चित्त पर नही है। उसका कारण यह है कि महावीर ने जो आज्ञा दी है वह बाबा को पूर्ण मान्य है। आज्ञा यह कि सत्यग्राही बनो। आज जहाँ-जहाँ जो उठा सो सत्याग्रही होता है। बाबा को भी व्यक्तिगत सत्याग्रही के नाते गाधीजी ने पेश किया था, लेकिन बाबा जानता था वह कौन है, वह सत्याग्रही नही, सत्यग्राही है। हर मानव के पास सत्य का अश होता है, इसलिए मानव-जन्म सार्थक होता है। तो सब धर्मो मे, सब पन्थो मे, सब मानवो मे सत्य का जो अश है, उसको ग्रहण करना चाहिए। हमको सत्यग्राही बनना चाहिए, यह जो शिक्षा है महावीर की, बाबा पर गीता के बाद उसीका असर है। गीता के बाद कहा, लेकिन जब देखता हूँ तो मुझे दोनो मे फरक ही नही दीखता है।

ब्रह्म-विद्या मन्दिर,
पवनार (वर्धा) २५-१२-'७४

राम हरि
राम हरि
राम हरि
हस्ताक्षर श्री विनोबाजी

भूमिका

'समणसुत्त' नामक इस ग्रन्थ की सरचना या सकलना आचार्य विनोवाजी की प्रेरणा से हुई है। उसी प्रेरणा के फलस्वरूप सगीति या वाचना हुई और उसमे इसके प्रारूप को स्वीकृति प्रदान की गयी। यह एक विशिष्ट ऐतिहासिक घटना है।

विश्व के समस्त धर्मों का मूल आधार है—आत्मा और परमात्मा। इन्ही दो तत्त्वरूप स्तम्भों पर धर्म का भव्य भवन खडा हुआ है। विश्व की कुछ धर्म-परम्पराएँ आत्मवादी होने के साथ-साथ ईश्वरवादी है और कुछ अनीश्वरवादी। ईश्वरवादी परम्परा वह है जिसमे सृष्टि का कर्ता-धर्ता या नियामक एक सर्वशक्तिमान् ईश्वर या परमात्मा माना जाता है। सृष्टि का सब-कुछ उसी पर निर्भर है। उसे ब्रह्मा, विधाता, परमपिता आदि कहा जाता है। इस परम्परा की मान्यता के अनुसार भूमण्डल पर जव-जव अधर्म वढता है, धर्म का ह्रास होता है, तव-तव भगवान् अवतार लेते है और दुष्टो का दमन करके सृष्टि की रक्षा करते है, उसमे सदाचार का वीज-वपन करते है।

अनीश्वरवादी परम्परा

दूसरी परम्परा आत्मवादी होने के साथ-साथ अनीश्वरवादी है जो व्यक्ति के स्वतत्र विकास मे विश्वास करती है। प्रत्येक व्यक्ति या जीव अपना सम्पूर्ण विकास कर सकता है। अपने मे राग-द्वेष, विहीनता या वीत-रागता का सर्वोच्च विकास करके वह परमपद को प्राप्त करता है। वह स्वयं ही अपना नियामक या सचालक है। वह स्वय ही अपना मित्र है, शत्रु है। जैनधर्म इसी परम्परा का अनुयायी स्वतन्त्र तथा वैज्ञानिक धर्म है। यह परम्परा सक्षेप में 'श्रमण-सस्कृति' के नाम से पहचानी जाती है। इस आध्यात्मिक परम्परा मे वौद्ध आदि अन्य धर्म भी आते है। ईश्वरवादी भारतीय परम्परा 'ब्राह्मण-संस्कृति' के नाम से जानी जाती है।

प्राचीनता

किसी धर्म की श्रेष्ठता अथवा उपादेयता उसकी प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता पर अवलम्बित नही होती, किन्तु यदि कोई धार्मिक परम्परा प्राचीन होने के साथ-साथ सुदीर्घकाल तक सजीव, सक्रिय एव प्रगतिशील रही है तथा लोक के उन्नयन, नैतिक विकास तथा साँस्कृतिक समृद्धि मे प्रवल प्रेरक एव सहायक सिद्ध हुई है तो उसकी प्राचीनता उस धर्म के स्थायी महत्त्व तथा उसमे निहित सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक तत्त्वो की सूचक ही कही जा सकती है। जैनधर्म की परम्परा आचार और विचार दोनो दृष्टियो से नि:सन्देह सुदूर अतीत तक जाती है। इतिहासज्ञो ने अब इस तथ्य को पूर्णतया स्वीकार कर लिया है कि तीर्थंकर वर्धमान महावीर जैनधर्म के मूल सस्थापक नही थे। उनसे पूर्व और भी तीर्थंकर हो गये है जिन्होने जिनधर्म की पुनर्स्थापना की और उसकी प्राणधारा को आगे बढाया। यह ठीक है कि इतिहास की पहुंच जैनधर्म के मूल उद्गम तक नही है, किन्तु उपलब्ध पुरातात्त्विक एव साहित्यिक तथ्यो के निष्पक्ष विश्लेषण से अब यह निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि जैनधर्म एक अति प्राचीन धर्म है। वातरशना मुनियो, केशियो, व्रात्य-क्षत्रियो के विषय मे ऋग्वेद, श्रीमद्भागवत आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो मे प्रचुर उल्लेख उपलब्ध है।

जैन-इतिहास मे तिरसठ 'शलाका-पुरुषो' का वर्णन आता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नामक प्रत्येक सुदीर्घ कालखण्ड मे ये शलाका पुरुष होते है, जो मानव-सभ्यता के विकास मे अपने-अपने समय मे धर्म-नीति की प्रेरणा देते है। इन शलाका-पुरुषो मे २४ तीर्थंकरो का स्थान सर्वोपरि है। वर्तमान अवसर्पिणी कल्प मे, उसके चतुर्थ कालखण्ड में जो २४ तीर्थंकर हुए है, उनमे सर्वप्रथम ऋषभदेव है जो राजा नाभि तथा माता मरुदेवी के पुत्र थे। इन्हे आदिनाथ, आदिब्रह्मा, आदीश्वर आदि भी कहा जाता है। सबसे अतिम, २४वे तीर्थंकर, महावीर ढाई हजार वर्ष पूर्व हो गये है। तथागत बुद्ध भी इन्हीके समकालीन थे। भगवान् महावीर के २५० वर्ष पूर्व, २३वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ हो गये है, जो वाराणसी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। बौद्धागमो मे महावीर का उल्लेख तो निगंठनातपुत्त के रूप मे मिलता ही है, पार्श्व-परम्परा का उल्लेख भी चातुर्याम-धर्म के रूप में मिलता

है। महावीर भी पार्श्व-परम्परा के प्रतिनिधि थे। यों देखा जाय तो काल की अविच्छिन्न धारा मे न तो ऋषभदेव प्रथम है और न महावीर अंतिम। यह परम्परा तो अनादि-अनन्त है—न जाने कितनी चौबीसियाँ हो गयी है और आगे होगी।

सास्कृतिक विकास की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि पारमार्थिक अथवा आध्यात्मिक भूमिका की अपेक्षा से वैदिक तथा श्रमण सस्कृतियो मे विशेष अन्तर नही है, फिर भी व्यावहारिक क्षेत्र मे, दोनो के तत्त्वज्ञान, आचार और दर्शन मे अन्तर स्पष्ट है। दोनो सस्कृतियाँ आपस मे काफी प्रभावित रही है, उनमे आदान-प्रदान होता रहा है और सामाजिक परिवेश तो दोनो का लगभग एक ही रहा है। जो अन्तर दिखाई पडता है, वह भी ऐसा नही है कि समझ मे न आ सके। वल्कि, यह तो मनुष्य-सभ्यता के विकास के स्तरो को समझने मे बहुत सहायक है। भारत के समृद्ध प्राचीन साहित्य मे दोनो सस्कृतियो या परम्पराओ के पारस्परिक प्रभाव तथा आदान-प्रदान के विपुल दृश्य देखने को मिलते है। एक ही परिवार मे विभिन्न विचारो के लोग अपने-अपने ढग से धर्म-साधना करते थे।

आत्मवाद

आज जिसे हम जैनधर्म कहते है, प्राचीन काल मे उसका और कोई नाम रहा होगा। यह सत्य है कि 'जैन,' शब्द 'जिन' से बना है, फिर भी 'जैन' शब्द अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। भगवान् महावीर के समय मे इसका बोधक शब्द 'निर्ग्रन्थ' या 'निर्ग्रन्थप्रवचन' था। इसे कही-कही 'आर्यधर्म' भी कहा गया है। पार्श्वनाथ के समय मे इसे 'श्रमणधर्म' भी कहा जाता था। पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती २२वे तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समय मे इसे 'अर्हत्धर्म' भी कहा जाता था। अरिष्टनेमि कर्मयोगी शलाका-पुरुष श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। श्रीकृष्ण के द्वारा गाय की सेवा तथा गोरस का प्रचार वस्तुत अहिंसक समाज रचना की दिशा मे एक मगल प्रयास था। विहार प्रदेश मे भी जैनधर्म आर्हत्धर्म के नाम से प्रचलित रहा है। २१वे तीर्थंकर राजर्षि नमि मिथिला के थे। इतिहास के पर्दे पर समय-समय पर अनेक नामपट वदलते रहे होगे, लेकिन इतना कहा जा सकता है कि इस धर्म का, इस परम्परा और सस्कृति का मूल सिद्धान्त वीज-रूप मे वही रहा है जो आज है और

वह है आत्मवाद, अनेकान्तवाद। इसी आत्मवाद की उर्वरभूमि पर जैन धर्म-परम्परा का कल्पतरु फलता-फूलता रहा है। जैनधर्म के साधु आज भी 'श्रमण' कहलाते है। 'श्रमण' शब्द श्रम, समता तथा विकार-शमन का परिचायक है। उसमे प्रभूत अर्थ निहित है।

जैनधर्म का अर्थ है जिनोपदिष्ट या जिनप्रवर्तित कल्याण-मार्ग। 'जिन' वे कहलाते है जिन्होने अपने देहगत और आत्मगत अर्थात् वाह्याभ्यन्तर विकारो पर विजय प्राप्त कर ली है। आत्मा के सबसे प्रबल शत्रु है राग-द्वेष मोहादि विकार। इसलिए 'जैन' शब्द अपने मे एक अर्थ रखता है—यह जाति वर्ग का द्योतक नही है। जो भी 'जिन' के मार्ग पर चलता है, आत्मोपलब्धि के पथ का अनुसरण करता है, वह जैन है।

वीतराग-विज्ञानता

जैनधर्म का लक्ष्य पूर्ण वीतराग-विज्ञानता की प्राप्ति है। यह वीतराग-विज्ञान मंगलमय है, मगल करनेवाला है, इसीके आलोक मे मनुष्य 'अरहन्त' पद को प्राप्त करता है। यह वीतरागता सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी रत्नत्रय की समन्वित साधना से उपलब्ध होती है। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का मिला-जुला पथ ही व्यक्ति को मुक्ति या सिद्धि तक ले जाता है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र मिलकर ही मनुष्य को पूर्णता प्रदान करते है। जैनधर्म की सबसे प्रथम और मूलभूत सिखावन यही है कि श्रद्धापूर्वक विवेक की आँख से ससार को देखकर उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करो और उसे जीवन मे उतारो। लेकिन सम्पूर्ण आचार-विचार का केन्द्र-विन्दु वीतरागता की उपलब्धि है। वीतरागता के समक्ष वडे से वडा ऐश्वर्य व्यर्थ है। प्रवृत्ति हो या निवृत्ति, गार्हस्थ्य हो या श्रामण्य, दोनो स्थितियो मे अन्तरात्मा मे निरन्तर वीतरागता की वृद्धि ही श्रेयस्कर मानी गयी है। किन्तु अनेकान्त-दृष्टि के विना वीतरागता की उपलब्धि का मार्ग नही मिलता। यह अनेकान्त-दृष्टि ही है जो प्रवृत्ति मे भी निवृत्ति, और निवृत्ति मे भी प्रवृत्ति के दर्शन कराकर यथार्थ और निवृत्ति का मार्गदर्शन कराती है।

अहिंसा

जैन-आचार का मूल अहिसा है। उस अहिसा का पालन अनेकान्त-दृष्टि के विना सभव नही है। क्योकि जैन दृष्टि से हिसा नही करते हुए भी

मनुष्य हिंसक हो सकता है और हिंसा करते हुए भी हिंसक नही होता। मछली मारने की भावना से पानी में जाल डालकर बैठा हुआ व्यक्ति मछली के न फँसने पर भी हिंसक है, क्योकि उसका भाव मछली मारने का है और खेत जोतते समय किसान के द्वारा क्षुद्र जीवो के मरते हुए भी वह हिंसक नही है, क्योकि उसका भाव अन्न उपजाने का है, जीवो को मारने का नही। अत जैनधर्म में हिंसा और अहिंसा कर्ता के भावो पर अवलम्बित है, क्रिया पर नही। यदि बाह्यत होनेवाली हिंसा को ही हिंसा माना जाये तब तो कोई अहिंसक हो नही सकता क्योकि जगत में सर्वत्र जीव है और उनका घात होता रहता है। इसलिए जो सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करता है उसके भावो मे अहिंसा है, अत वह अहिंसक है और जो अपनी प्रवृत्ति मे सावधान नही है उसके भावो मे हिंसा है, अत वह हिंसा नही करने पर भी हिंसक होता है। यह सब विश्लेषण अनेकान्त-दृष्टि के बिना सभव नही है। अत अनेकान्त-दृष्टि-सम्पन्न मनुष्य ही सम्यग्दृष्टि माना गया है और सम्यग्दृष्टि ही सम्यग्ज्ञानी और सम्यक्चारित्रशील होता है। जिसकी दृष्टि सम्यक् नही है उसका ज्ञान भी सच्चा नही है और न आचार ही यथार्थ है। इसी-से जैन-मार्ग मे सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन का विशेष महत्त्व है। वही मोक्षमार्ग की आधार-शिला है।

ससार एक बन्धन है। उस बन्धन मे जीव अनादिकाल से पड़ा है, इससे वह अपने यथार्थ स्वरूप को भूल इस बन्धन को ही अपना स्वरूप मानकर उसमे रम रहा है और उसकी यह भूल ही उसके इस बन्धन का मूल है। अपनी इस भूल पर दृष्टि पडते ही जब उसकी दृष्टि अपने स्वरूप की ओर जाती है कि मै चैतन्यशक्ति-सम्पन्न हूँ और भौतिक ऊर्जा शक्ति मे भी विशिष्ट शक्ति मेरा चैतन्य है जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्त-शक्ति का भण्डार है यह श्रद्धा जगते ही उसे सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है और तब वह सम्यक् आचार के द्वारा अपने यथार्थ स्वरूप में स्थिर होने का प्रयत्न करता है। अत जैनधर्म का आचारमार्ग सम्यग्ज्ञानपूर्वक वीतरागता तक पहुँचने का राजमार्ग है।

अनेकान्त

वस्तुत. देखा जाय तो इस विशाल लोक मे सदेह व्यक्ति का अधिक से अधिक ज्ञान भी सीमित, अपूर्ण और एकागी ही है। वह वस्तु के अनन्त

गुणो का समग्र अनुभव एक साथ कर ही नही पाता, अभिव्यक्ति तो दूर की बात है। भाषा की असमर्थता और शब्दार्थ की सीमा जहाँ-तहाँ झगडे और विवाद पैदा करती है। मनुष्य का अह उसमे और वृद्धि करता है। लेकिन अनेकान्त समन्वय का, विरोध-परिहार का मार्ग प्रशस्त करता है। सबके कथन मे सत्यांश होता है और उन सत्याशो को समझकर विवाद को सरलता से दूर किया जा सकता है। जिसका अपना कोई हठ या कदाग्रह नही होता, वही अनेकान्त के द्वारा गुत्थियो को भलीभाँति सुलझा सकता है। यो प्रत्येक मनुष्य अनेकान्त में जीता है, परन्तु उसके ध्यान मे नही आ रहा है कि वह ज्योति कहाँ है जिससे वह प्रकाशित है। आँखो पर जब तक आग्रह की पट्टी बँधी रहती है, तब तक वस्तुस्वरूप का सही दर्शन नही हो सकता। अनेकान्त वस्तु या पदार्थ की स्वतत्र सत्ता का उद्घोष करता है। विचार-जगत् मे अहिंसा का मूर्तरूप अनेकान्त है। जो अहिंसक होगा वह अनेकान्ती होगा और जो अनेकान्ती होगा, वह अहिंसक होगा।

आज जैनधर्म का जो कुछ स्वरूप उपलब्ध है, वह महावीर की देशना से अनुप्राणित है। आज उन्हीका धर्मशासन चल रहा है। महावीर दर्शन और धर्म के समन्वयकार थे। ज्ञान, दर्शन एव आचरण का समन्वय ही मनुष्य को दु ख-मुक्ति की ओर ले जाता है। ज्ञानहीन कर्म और कर्महीन ज्ञान—दोनो व्यर्थ है। ज्ञात सत्य का आचरण और आचरित सत्य का ज्ञान—दोनो एक साथ होकर ही सार्थक होते है।

वस्तु स्वभाव धर्म

जैन-दर्शन की यह देन बड़ी महत्त्वपूर्ण है कि वस्तु का स्वभाव ही धर्म है—वत्थु सहावो धम्मो। सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभावानुसार प्रवर्तमान है। उसका अस्तित्व उत्पत्ति, स्थिति और विनाश से युक्त है। पदार्थ अपने स्वभाव से च्युत नही होता—वह जड हो या चेतन। सत्ता के रूप मे वह सदैव स्थित है, पर्याय की अपेक्षा वह निरन्तर परिवर्तनशील है। इसी त्रिपदी पर सम्पूर्ण जैनदर्शन का प्रासाद खडा है। इसी त्रिपदी के आधार पर सम्पूर्ण लोक-व्यवस्था का प्रतिपादन जैन-दर्शन की विशेषता है। षड्द्रव्यो की स्थिति से स्पष्ट है कि यह लोक अनादि अनन्त है, इसका कर्ता-धर्ता या निर्माता कोई व्यक्ति-विशेष या

शक्ति-विशेष नही है । देश-काल से परे, वस्तुस्वभाव के आधार पर आत्मा की सत्ता स्वीकार करने पर समाज मे विषमता, वर्गभेद, वर्णभेद आदि का स्थान ही नही रह जाता । ऐसी स्थिति में, व्यवहार-जगत् मे महावीर जैसा वीतराग तत्त्वदर्शी यही कह सकता है कि समभाव ही अहिंसा है, मन मे ममत्व का भाव न होना ही अपरिग्रह है । सत्य शास्त्र में नही अनुभव में है, ब्रह्म में चर्या करना ही ब्रह्मचर्य है । कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य और कर्म से ही शूद्र । चारित्रहीन व्यक्ति को सम्प्रदाय और वेश, धन और बल, सत्ता और ऐश्वर्य, ज्ञान और पोथियाँ त्राण नही देते । देवी-देवताओ या प्रकृति की विभिन्न शक्तियो को प्रसन्न करने के लिए तरह-तरह के कर्मकाडी अनुष्ठानो से भी मानव को त्राण नही मिल सकता । आत्म-प्रतीति, आत्मज्ञान और आत्म-लीनता—निजानन्द रसलीनता ही मनुष्य को मुक्ति दिलाती है । निश्चयत यही सम्यक्त्व है । महावीर सही अर्थों मे निर्ग्रन्थ थे—ग्रन्थ और ग्रथियो को भेदकर ही वे देह में भी विदेह थे । उन्हीकी निरक्षरी सर्वबोधगम्य पीयूषवर्षिणी वाणी की अनुगूंज वातावरण मे है ।

श्रावकाचार

साधना शक्त्यनुकूल ही हो सकती है । इसीलिए जैन आचार-मार्ग को श्रावकाचार और श्रमणाचार इन दो विभागो मे विभाजित किया गया है । श्रावको का आचार श्रमणो की अपेक्षा सरल होता है, क्योकि वे गृह-त्यागी नही होते और ससार के व्यापारो में लगे रहते हैं । किन्तु श्रावक अपने आचार के प्रति निरन्तर सचेत रहता है और उसका लक्ष्य श्रमणधर्म की ओर बढने का होता है । जब श्रावक की आत्मशक्ति बढ जाती है और रागद्वेषादि विकारो पर, क्रोधादि कषायो पर उसका नियत्रण बढने लगता है, तब वह धीरे-धीरे एक-एक श्रेणी बढकर श्रमण-पथ पर विचरने लगता है । बारह व्रतो का धीरे-धीरे निरतिचार पालन करते हुए और एकादश श्रेणियो को उत्तीर्ण कर श्रावक श्रमणदशा मे पहुँचता है । वस्तुत देखा जाय तो श्रावक-धर्म श्रमणधर्म का आधार या पूरक है । यह उल्लेखनीय बात है कि जैनधर्म का सम्पूर्ण आचार आत्मलक्षी है, और श्रावक तथा श्रमण के लिए व्यवस्थित, क्रमिक विकासोन्मुख, ऊर्ध्वगामी सहिता उपलब्ध है । केवल नीति-उपदेश

या पारस्परिक व्यवहार की दृष्टि से आचार-नियमो का प्रतिपादन जैनधर्म मे नही है। शक्ति की सापेक्षता एव विकास की प्रक्रिया मे वाह्य क्रियाकाण्ड या रूढिगत लोकमूढता, देवमूढता या गुरुमूढता को उसमे कतई स्थान नही है। अणुव्रतादि का पालन श्रावक को जहाँ साधक वनने की प्रेरणा देता है, वहाँ वह समाज के सुसचालन मे भी अपूर्व भूमिका निभाता है।

ग्रन्थ-परिचय

'समणसुत्त' ग्रन्थ मे जैन धर्म-दर्शन की सारभूत वातो का, सक्षेप मे, क्रमपूर्वक सकलन किया गया है। ग्रन्थ मे चार खण्ड है और ४४ प्रकरण है। कुल मिलाकर ७५६ गाथाएँ है।

ग्रंथ की सरचना या सकलना प्राकृत गाथाओ मे की गयी है, जो गेय है तथा पारायण करने योग्य है। जैनाचार्यो ने प्राकृत गाथाओ को सूत्र कहा है। प्राकृत के सुत्त शब्द का अर्थ सूत्र, सूक्त तथा श्रुत भी होता है। जैन-परम्परा मे सूत्र शब्द रूढ है। इसीलिए ग्रथ का नाम, 'समणसुत्त' (श्रमणसूत्रम्) रखा गया है। गाथाओ का चयन प्राय प्राचीन मूल ग्रन्थो मे किया गया है। अतः यह समणसुत्त आगमवत् स्वत प्रमाण है।

प्रथम खण्ड 'ज्योतिर्मुख' है, जिसमे व्यक्ति 'खाओ पीओ मौज उडाओ' की निम्न भौतिक भूमिका या वाह्य जीवन से ऊपर उठकर आभ्यन्तर जीवन के दर्शन करता है। वह विपय-भोगो को असार, दु खमय तथा जन्म जरा मरण रूप ससार का कारण जानकर, इनसे विरक्त हो जाता है। राग-द्वेप को ही अपना सवसे वडा शत्रु समझकर वह हर प्रकार से इनके परिहार का उपाय करने लगता है और क्रोध मान माया व लोभ के स्थान पर क्षमा। मार्दव, सरलता व सन्तोप आदि गुणो का आश्रय लेता है। कपायो का निग्रह करके विपय-गृद्ध इन्द्रियो को संयमित करता है। सभी प्राणियो को आत्मवत् देखता हुआ उनके सुख-दु ख का वेदन करने लगता है और दूसरो की आवश्यकताओ का सम्मान करते हुए परिग्रह का यथाशक्ति त्याग करता है। स्व व पर के प्रति सदा जागरूक रहता है तथा यतनाचारपूर्वक मोक्षमार्ग मे निर्भय विचरण करने लगता है।

द्वितीय खण्ड 'मोक्षमार्ग' है। इसमे पदार्पण करने पर व्यक्ति की समस्त शकाएँ, भययुक्त सवेदनाए, आकाक्षाएँ तथा मूढताएँ, श्रद्धा ज्ञान व चारित्र

अथवा भक्ति ज्ञान कर्म की समन्वित त्रिवेणी में घुल जाती है। इष्टानिष्ट के समस्त द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं तथा समता व वात्सल्य का झरना फूट पड़ता है। सांसारिक भोगों के प्रति विरत होकर उसका चित्त प्रशान्त हो जाता है। घर में रहते हुए भी वह जल में कमल की भाँति अलिप्त रहता है। व्यापार-धन्धा आदि सब कुछ करते हुए भी वह कुछ नहीं करता। श्रावक तथा क्रमशः श्रमण धर्म का अवलम्बन लेकर उसका चित्त सहज ही ज्ञान-वैराग्य तथा ध्यान की विविध श्रेणियों को उत्तीर्ण करते हुए धीरे-धीरे ऊपर उठने लगता है, यहाँ तक कि उसकी समस्त वासनाएँ निर्मूल हो जाती हैं, ज्ञान-सूर्य पूरी प्रखरता के साथ चमकने लगता है और आनन्द-सागर हिलोरें लेने लगता है। जब तक देह है, तब तक वह अर्हन्त या जीवन्मुक्त दशा में दिव्य उपदेशों के द्वारा जगत् में कल्याणमार्ग का उपदेश करते हुए विचरण करता है, और जब देह स्थिति या आयु पूर्ण हो जाती है तब सिद्ध या विदेह दशा को प्राप्त कर सदा के लिए आनन्द-सागर में लीन हो जाती है।

तृतीय खण्ड 'तत्त्व-दर्शन' है, जिसमें जीव-अजीव आदि सप्त तत्त्वों का अथवा पुण्य-पाप आदि नौ पदार्थों का विवेचन है। जीवात्मा पुद्गल-परमाणु आदि षट् द्रव्यों का परिचय देकर उनके संयोग व विभाग द्वारा विश्व सृष्टि की अकृत्रिमता तथा अनादि-अनन्तता प्रतिपादित की गयी है।

चतुर्थ खण्ड 'स्याद्वाद' है। ऊपर अनेकान्त का संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है। यही जैनदर्शन का प्रधान न्याय है। इस खण्ड में प्रमाण, नय, निक्षेप, व सप्तभंगी जैसे गूढ व गम्भीर विषयों का हृदयग्राही, सरल व संक्षिप्त परिचय दिया गया है। अन्त में वीरस्तवन के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है।

कहा जा सकता है कि इन चार खण्डों में अथवा ७५६ गाथाओं में जैनधर्म, तत्त्व-दर्शन तथा आचार-मार्ग का सर्वाङ्गीण संक्षिप्त परिचय आ गया है। यों तो जैन-वाङ्मय विपुल है और एक-एक शाखा पर अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं। सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन करने के लिए तो निश्चय ही उन ग्रन्थों का सहारा लेना आवश्यक है। किन्तु साम्प्रदायिक अभिनिवेश से परे, मूलरूप में जैनधर्म-सिद्धान्त का, आचार-प्रणाली का, जीवन के क्रमिक-विकास की प्रक्रिया का, सर्वसाधारण को परिचय कराने के लिए यह एक सर्वसम्मत प्रातिनिधिक ग्रन्थ है। जैनं जयति शासनम्।

अनुक्रम

प्रथम खण्ड ज्योतिर्मुख

द्वितीय खण्ड . मोक्षमार्ग

तृतीय खण्ड तत्त्व-दर्शन

चतुर्थ खण्ड स्याद्वाद

●

समणसुत्तं

प्रथम खण्ड

ज्योतिर्मुख

१. मङ्गलसूत्र

१. णमो अरहंताणं। णमो सिद्धाणं। णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं। णमो लोए सव्वसाहूणं ॥१॥
नम अर्हद्भ्य.। नम सिद्धेभ्य। नम. आचार्येभ्य।
नम उपाध्यायेभ्य.। नमो लोके सर्वसाधुभ्य ॥१॥

२. एसो पंचणमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥२॥
एप पचनमस्कार, सर्वपापप्रणाशन.।
मङ्गलेपु च सर्वेपु, प्रथम भवति मङ्गलम् ॥२॥

३–५. अरहंता मंगलं। सिद्धा मंगलं। साहू मंगलं।
केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं ॥३॥
अरहंता लोगुत्तमा। सिद्धा लोगुत्तमा। साहू लोगुत्तमा।
केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ॥४॥
अरहंते सरणं पव्वज्जामि। सिद्धे सरणं पव्वज्जामि।
साहू सरणं पव्वज्जामि।
केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ॥५॥

अर्हन्त मङ्गलम्। सिद्धा मङ्गलम्। साधवः मङ्गलम्।
केवलिप्रज्ञप्त धर्म. मङ्गलम् ॥३॥
अर्हन्तः लोकोत्तमा'। सिद्धा. लोकोत्तमा.। साधव. लोकोत्तमा.।
केवलिप्रज्ञप्त धर्मः लोकोत्तमः ॥४॥
अर्हतः शरणं प्रपद्ये। सिद्धान् शरणं प्रपद्ये। साधून् शरण प्रपद्ये।
केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं शरणं प्रपद्ये ॥५॥

१. मङ्गलसूत्र

१. अर्हतों को नमस्कार।
सिद्धों को नमस्कार।
आचार्यों को नमस्कार।
उपाध्यायों को नमस्कार।
लोकवर्ती सर्वसाधुओं को नमस्कार॥

२. यह पंच नमस्कार मन्त्र सब पापों का विनाश करनेवाला है और समस्त मंगलों में प्रथम मंगल है।

३–५. अर्हत् मंगल हैं।
सिद्ध मंगल हैं।
साधु मंगल हैं।
केवलिप्रणीत धर्म मंगल है।
अर्हत् लोकोत्तम हैं।
सिद्ध लोकोत्तम हैं।
साधु लोकोत्तम हैं।
केवलि-प्रणीत धर्म लोकोत्तम है।
अर्हतों की शरण लेता हूँ।
सिद्धों की शरण लेता हूँ।
साधुओं की शरण लेता हूँ।
केवलि-प्रणीत धर्म की शरण लेता हूँ।

६. झायहि पंच वि गुरवे, मंगलचउसरणलोयपरियरिए।
णर-सुर-खेयर-महिए, आराहणणायगे वीरे ॥६॥
ध्यायत पञ्च अपि गुरून्, मङ्गल-चतु शरण-लोकपरिकरितान्।
नरसुरखेचरमहितान्, आराधननायकान् वीरान् ॥६॥

७ घणघाइकम्ममहणा, तिहुवणवरभव्व-कमलमत्तंडा।
अरिहा अणंतणाणी, अणुवमसोक्खा जयंतु जए ॥७॥
घनघातिकर्ममथना, त्रिभुवनवरभव्यकमलमार्तण्डा।
अर्हा (अर्हन्त) अनन्तज्ञानिन, अनुपमसौख्या जयन्तु जगति ॥

८. अट्ठविहकम्मवियला, णिट्ठियकज्जा पणट्ठसंसारा।
दिट्ठसयलत्थसारा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥८॥
अष्टविधकर्मविकला, निष्ठितकार्या प्रणष्टससारा।
दृष्टसकलार्थसारा, सिद्धा सिद्धि मम दिशन्तु ॥८॥

९. पंचमहव्वयतुंगा, तक्कालिय-सपरसमय-सुदधारा।
णाणागुणगणभरिया, आइरिया मम पसीदंतु ॥९॥
पञ्चमहाव्रततुङ्गा, तत्कालिकस्वपरसमयश्रुतधारा।
नानागुणगणभरिता, आचार्या मम प्रसीदन्तु ॥९॥

१०. अण्णाणघोरतिमिरे, दुरंततीरम्हि हिंडमाणाणं।
भवियाणुज्जोययरा, उवज्झाया वरमदि देंतु ॥१०॥
अज्ञानघोरतिमिरे, दुरन्ततीरे हिण्डमानानाम्।
भव्यानाम् उद्योतकरा, उपाध्याया वरगति ददतु ॥१०॥

११. थिरधरियसीलमाला, ववगयराया जसोहपडिहत्था।
बहुविणयभूसियंगा, सुहाइं साहू पयच्छंतु ॥११॥
स्थिरधृतशीलमाला, व्यपगतरागा यशओघप्रतिहस्ता।
बहुविनयभूषिताङ्गा, सुखानि साधव. प्रयच्छन्तु ॥११॥

१२. अरिहंता, असरीरा, आयरिया, उवज्झाय मुणिणो।
पंचक्खरनिप्पण्णो, ओंकारो पंच परमिट्ठी ॥१२॥
अर्हन्त अशरीरा, आचार्या उपाध्याय मुनय।
पञ्चाक्षरनिष्पन्न:, ओङ्कार पञ्च परमेष्ठिन ॥१२॥

६. मगलस्वरूप, चतु शरणरूप तथा लोकोत्तम, परम आराध्य एव नर-सुर-विद्याधरों द्वारा पूजित, कर्मशत्रु के विजेता पच गुरुओ (परमेष्ठी) का ध्यान करना चाहिए ।

७ सघन घातिकर्मो का आलोडन करनेवाले, तीनो लोको मे विद्यमान भव्यजीवरूपी कमलों को विकसित करनेवाले सूर्य, अनन्तज्ञानी और अनुपम सुखमय अर्हत् की जगत् मे जय हो ।

८ अष्टकर्मो से रहित, कृतकृत्य, जन्म-मृत्यु के चक्र मे मुक्त तथा सकल तत्त्व-रहस्य के द्रष्टा सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करे ।

९ पच महाव्रतो से समुन्नत, तत्कालीन स्वसमय और पर-समय रूप श्रुत के ज्ञाता तथा नाना गुणसमूह से परिपूर्ण आचार्य मुझ पर प्रसन्न हो ।

१० जिसका ओर-छोर पाना कठिन है, उस अज्ञानरूपी घोर अधकार मे भटकनेवाले भव्य जीवो के लिए ज्ञान का प्रकाश देनेवाले उपाध्याय मुझे उत्तम गति प्रदान करे ।

११. शीलरूपी माला को स्थिरतापूर्वक धारण करनेवाले, राग-रहित, यश समूह से परिपूर्ण तथा प्रवर विनय से अलकृत शरीर-वाले साधु मुझे सुख प्रदान करे ।

१२ अर्हत्, अशरीरी (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय तथा मुनि—इन पाँचो के प्रथम पांच अक्षरो (अ + अ + आ + उ + म) को मिलाकर ॐ (ओकार) बनता है जो पच-परमेष्ठी का वाचक है—बीजरूप है ।

१३. उसहमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥१३॥
ऋषभमजित च वन्दे, सभवमभिनन्दन च सुमति च ।
पद्मप्रभ सुपार्श्व, जिन च चन्द्रप्रभ वन्दे ॥१३॥

१४. सुविहिं च पुप्फयंतं, सीयल सेयंस वासुपुज्जं च ।
विमलमणंत-भयवं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥१४॥
सुविधि च पुष्पदन्त, शीतलं श्रेयांसं वासुपूज्य च ।
विमलम् अनन्तभगवन्त, धर्म शान्ति च वन्दे ॥१४॥

१५. कुंथुं च जिणवरिंदं, अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं ।
वंदामि रिट्ठणेमिं, तह पासं वड्ढमाणं च ॥१५॥
कुन्थु च जिनवरेन्द्रम्, अर च मल्लि च सुव्रतं च नमिम् ।
वन्दे अरिष्टनेमिं, तथा पार्श्वं वर्धमान च ॥१५॥

१६. चंदेहिं णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहियं पयासंता ।
सायरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥१६॥
चन्द्रैर्निर्मलतरा, आदित्यै अधिक प्रकाशमाना. ।
सागरवरगम्भीरा, सिद्धा. सिद्धि मम दिशन्तु ॥१६॥

२. जिनशासनसूत्र

१७. जमल्लीणा जीवा, तरंति संसारसायरमणंतं ।
तं सव्वजीवसरणं, णंदतु जिणसासणं सुइरं ॥१॥
यद् आलीना जीवा, तरन्ति संसारसागरमनन्तम् ।
तत् सर्वजीवशरण, नन्दतु जिनशासन सुचिरम् ॥१॥

१८. जिणवयणमोसहमिणं, विसयसुह-विरेयणं अमिदभयं ।
जरमरणवाहिहरणं, खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥२॥
जिनवचनमौषधमिद, विषयमुखविरेचनम्-अमृतभूतम् ।
जरामरणव्याधिहरण, क्षयकरणं सर्वदु खानाम् ॥२॥

१३. मैं १ ऋषभ, २. अजित, ३. सम्भव, ४. अभिनन्दन, ५. सुमति, ६. पद्मप्रभु, ७ सुपार्श्व तथा ८. चन्द्रप्रभु को वन्दन करता हूँ।

१४. मैं ९. सुविधि (पुष्पदन्त), १०. शीतल, ११ श्रेयास, १२. वासुपूज्य, १३. विमल, १४ अनन्त, १५ धर्म, १६. शान्ति को वन्दन करता हूँ।

१५. मैं १७. कुन्थु, १८. अर, १९ मल्लि, २० मुनिसुव्रत, २१. नमि, २२. अरिष्टनेमि, २३. पार्श्व तथा २४. वर्धमान को वन्दन करता हूँ।

१६. चन्द्र से अधिक निर्मल, सूर्य से अधिक प्रकाश करनेवाले, सागर की भाँति गम्भीर सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि (मुक्ति) प्रदान करें।

२. जिनशासनसूत्र

१७ जिसमे लीन होकर जीव अनन्त संसार-सागर को पार कर जाते है तथा जो समस्त जीवो के लिए शरणभूत है, वह जिनशासन चिरकाल तक समृद्ध रहे।

१८. यह जिनवचन विषयसुख का विरेचन, जरा-मरणरूपी व्याधि का हरण तथा सब दु खो का क्षय करनेवाला अमृततुल्य औषध है।

१९. अरहंतभासियत्थं, गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
पणमामि भत्तिजुत्तो, सुदणाणमहोदहिं सिरसा ॥३॥
अर्हद्भाषितार्थं, गणधरदेवै ग्रन्थित सम्यक्।
प्रणमामि भक्तियुक्त, श्रुतज्ञानमहोदधि शिरसा ॥३॥

२०. तस्स मुहुग्गदवयणं, पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ॥४॥
तस्य मुखोद्गतवचनं, पूर्वापरदोषविरहित शुद्धम्।
'आगम' इति परिकथित, तेन तु कथिता भवन्ति तथ्यार्था ॥४॥

२१. जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्तसंसारी ॥५॥
जिनवचनेऽनुरक्ता, जिनवचन ये करन्ति भावेन।
अमला असक्लिष्टा, ते भवन्ति परीतसंसारिण ॥५॥

२२. जय वीयराय! जयगुरू! होउ मम तुह पभावओ भयवं!
भवणिव्वेओ मग्गाणुसारिया इट्ठफलसिद्धी ॥६॥
जय वीतराग! जगद्गुरो! भवतु मम तव प्रभावतो भगवन्!
भवनिर्वेद मार्गानुसारिता इष्टफलसिद्धि. ॥६॥

२३. ससमय-परसमयविऊ, गंभीरो दित्तिमं सिवो सोमो।
गुणसयकलिओ जुत्तो, पवयणसारं परिकहेउं ॥७॥
स्वसमय-परसमयवित्, गम्भीर दीप्तिमान् शिव सोम।
गुणशतकलित युक्त, प्रवचनसार परिकथयितुम् ॥७॥

२४. जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणं ॥८॥
यदिच्छसि आत्मत, यच्च नेच्छसि आत्मत।
तदिच्छ परस्यापि च, एतावत्कं जिनशासनम् ॥८॥

१९. जो अर्हत् के द्वारा अर्थरूप में उपदिष्ट है तथा गणधरों के द्वारा सूत्ररूप में सम्यक् गुम्फित है, उस श्रुतज्ञानरूपी महासिन्धु को मैं भक्तिपूर्वक सिर नवाकर प्रणाम करता हूँ।

२०. अर्हत् के मुख से उद्भूत, पूर्वापरदोष-रहित शुद्ध वचनों को आगम कहते हैं। उस आगम में जो कहा गया है वही सत्यार्थ है। (अर्हत् द्वारा उपदिष्ट तथा गणधर द्वारा सकलित श्रुत आगम है।)

२१. जो जिनवचन में अनुरक्त हैं तथा जिनवचनों का भावपूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल और असंक्लिष्ट होकर परीत-संसारी (अल्प जन्म-मरणवाले) हो जाते हैं।

२२ हे वीतराग !, हे जगद्गुरु !, हे भगवन् ! आपके प्रभाव से मुझे संसार से विरक्ति, मोक्षमार्ग का अनुसरण तथा इष्टफल की प्राप्ति होती रहे।

२३ जो स्वसमय व परसमय का ज्ञाता है, गम्भीर, दीप्तिमान, कल्याणकारी और सौम्य है तथा सैकड़ों गुणों से युक्त है, वही निर्ग्रन्थ प्रवचन के सार को कहने का अधिकारी है।

२४. जो तुम अपने लिए चाहते हो वही दूसरों के लिए भी चाहो तथा जो तुम अपने लिए नहीं चाहते वह दूसरों के लिए भी न चाहो। यही जिनशासन है—तीर्थंकर का उपदेश है।

३. संघसूत्र

२५. संघो गुणसंघाओ, संघो य विमोचओ य कम्माणं ।
दंसणणाणचरित्ते, संघायंतो हवे संघो ॥१॥
सघो गुणसघात., सघश्च विमोचकश्च कर्मणाम् ।
दर्शनज्ञानचरित्राणि, सघातयन् भवेत् सघ· ॥१॥

२६. रयणत्तयमेव गणं, गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स ।
संघो गुण संघादो, समयो खलु णिम्मलो अप्पा ॥२॥
रत्नत्रयमेव गण, गच्छ गमनस्य मोक्षमार्गस्य ।
सघो गुणसघात, समय· खलु निर्मल. आत्मा ॥२॥

२७. आसासो वीसासो, सीयघरसमो य होइ मा भाहि ।
अम्मापितिसमाणो, संघो सरणं तु सव्वेसिं ॥३॥
आश्वास विश्वास, शीतगृहसमश्च भवति मा भैषी ।
अम्वापितृसमान, सघ शरण तु सर्वेपाम् ॥३॥

२८. नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य ।
धन्ना गुरुकुलवासं, आवकहाए न मुंचंति ॥४॥
ज्ञानस्य भवति भागी, स्थिरतरको दर्शने चरित्रे च ।
धन्या: गुरुकुलवास, यावत्कथया न मुञ्चन्ति ॥४॥

२९. जस्स गुरुम्मि न भत्ती, न य वहुमाणो न गउरवं न भयं ।
न वि लज्जा न वि नेहो, गुरुकुलवासेण किं तस्स ? ॥५॥
यस्य गुरौ न भक्ति, न च वहुमान. न गौरव न भयम् ।
नापि लज्जा नापि स्नेह, गुरुकुलवासेन कि तस्य ? ॥५॥

३०-३१. कम्मरयजलोहविणिग्गयस्स, सुयरयणदीहनालस्स ।
पंचमहव्वयथिरकण्णियस्स, गुणकेसरालस्स ॥६॥
सावगजणमहुयरपरिवुडस्स, जिणसूरतेयबुद्धस्स ।
संघपउमस्स भद्दं, समणगणसहस्सपत्तस्स ॥७॥
कर्मरजजलौघविनिर्गतस्य, श्रुतरत्नदीर्घनालस्य ।
पञ्चमहाव्रतस्थिरकर्णिकस्य, गुणकेसरवत ॥६॥
श्रावकजन-मधुकर-परिवृतस्य, जिनसूर्यतेजोवुद्धस्य ।
सघपद्मस्य भद्र, श्रमणगणसहस्रपत्रस्य ॥७॥

३. संघसूत्र

२५. गुणों का समूह संघ है। संघ कर्मों का विमोचन करनेवाला है। जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र का संघात (रत्नत्रय की समन्विति) करता है, वह संघ है।

२६. रत्नत्रय ही 'गण' है। मोक्षमार्ग में गमन ही 'गच्छ' है। गण का समूह ही 'संघ' है तथा निर्मल आत्मा ही समय है।

२७. संघ भयभीत व्यक्तियों के लिए आश्वासन, निश्छल व्यवहार के कारण विश्वासभूत, सर्वत्र समता के कारण शीतगृहतुल्य, अविषमदर्शी होने के कारण माता-पितातुल्य तथा सब प्राणियों के लिए शरणभूत होता है, इसलिए तुम संघ से मत डरो।

२८. संघस्थित साधु ज्ञान का भागी (अधिकारी) होता है, दर्शन व चारित्र में विशेषरूप से स्थिर होता है। वे धन्य हैं जो जीवन-पर्यन्त गुरुकुलवास नहीं छोड़ते।

२९. जिसमें गुरु के प्रति न भक्ति है न बहुमान है, न गौरव है, न भय (अनुशासन) है, न लज्जा है तथा न स्नेह है, उसका गुरुकुलवास में रहने का क्या अर्थ है?

३१. संघ कमलवत् है। (क्योंकि) संघ कर्मरजरूपी जलराशि से कमल की तरह ही ऊपर तथा अलिप्त रहता है। श्रुतरत्न (ज्ञान या आगम) ही उसकी दीर्घनाल है। पंच महाव्रत ही उसकी स्थिर कर्णिका है तथा उत्तरगुण ही उसकी मध्यवर्ती केसर है। जिसे श्रावकजनरूपी भ्रमर सदा घेरे रहते हैं, जो जिनेश्वरदेवरूपी सूर्य के तेज से प्रबुद्ध होता है तथा जिसके श्रमणगणरूपी सहस्रपत्र हैं, उस संघरूपी कमल का कल्याण हो।

४. निरूपणसूत्र

३२. जो ण पमाणणयेहिं, णिक्खेवेणं णिरिक्खदे अत्थं ।
तस्साजुत्तं जुत्तं, जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ॥१॥
यो न प्रमाण-नयाभ्याम्, निक्षेपेण निरीक्षते अर्थम् ।
तस्यायुक्तं युक्तं, युक्तमयुक्तं च प्रतिभाति ॥१॥

३३. णाणं होदि पमाणं, णओ वि णादुस्स हिदयभावत्थो ।
णिक्खेओ वि उवाओ, जुत्तीए अत्थपडिगहणं ॥२॥
ज्ञानं भवति प्रमाणं, नयोऽपि ज्ञातुः हृदयभावार्थः ।
निक्षेपोऽपि उपायः, युक्त्या अर्थप्रतिग्रहणम् ॥२॥

३४. णिच्छयववहारणया, मूलभेया णयाण सव्वाणं ।
णिच्छयसाहणहेउं, पज्जयदव्वत्थियं मुणह ॥३॥
निश्चयव्यवहारनयौ, मूलभेदौ नयानां सर्वेषाम् ।
निश्चयसाधनहेतू, पर्यायद्रव्यार्थिकौ मन्यध्वम् ॥३॥

३५. जो सिय भेदुवयारं, धम्माणं कुणइ एगवत्थुस्स ।
सो ववहारो भणियो, विवरीओ णिच्छयो होइ ॥४॥
यः स्याद्भेदोपचारं, धर्माणां करोति एकवस्तुनः ।
स व्यवहारो भणितः, विपरीतो निश्चयो भवति ॥४॥

३६. ववहारेणुवदिस्सइ, णाणिस्स चरित्तं दंसणं णाणं ।
ण वि णाणं ण चरित्तं, न दंसणं जाणगो सुद्धो ॥५॥
व्यवहारेणोपदिश्यते, ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम् ।
नापि ज्ञानं न चरित्रं, न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ॥५॥

३७. एवं ववहारणओ, पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।
णिच्छयणयासिदा पुण, मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥६॥
एवं व्यवहारनयः, प्रतिषिद्धः जानीहि निश्चयनयेन ।
निश्चयनयाश्रिताः पुनर्मुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥६॥

४. निरूपणसूत्र

३२ जो प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा अर्थ का बोध नहीं करता, उसे अयुक्त युक्त तथा युक्त अयुक्त प्रतीत होता है।

३३ ज्ञान प्रमाण है। ज्ञाता का हृदयगत अभिप्राय नय है। जानने के उपायों को निक्षेप कहते हैं। इस तरह युक्तिपूर्वक अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

३४ निश्चय और व्यवहार--ये दो नय ही समस्त नयों के मूल हैं तथा द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय निश्चय के साधन में हेतु हैं।

३५. जो एक अखण्ड वस्तु के विविध धर्मों में कथंचित् (किसी अपेक्षा) भेद का उपचार करता है वह व्यवहारनय है। जो ऐसा नहीं करता अर्थात् अखण्ड पदार्थ का अनुभव अखण्ड रूप से करता है, वह निश्चय नय है।

३६. व्यवहारनय से यह कहा जाता है कि ज्ञानी के चारित्र होता है, दर्शन होता है और ज्ञान होता है। किन्तु निश्चयनय से उसके न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है। ज्ञानी तो शुद्ध ज्ञायक है।

३७ इस प्रकार आत्माश्रित निश्चयनय के द्वारा पराश्रित व्यवहार-नय का प्रतिषेध किया जाता है। निश्चयनय का आश्रय लेनेवाले मुनिजन ही निर्वाण प्राप्त करते हैं।

३८. जह ण वि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा, परमत्थुवएसणमसक्कं ॥७॥
यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम् ।
तथा व्यवहारेण विना, परमार्थोपदेशनमशक्यम् ॥७॥

३९. ववहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥८॥
व्यवहारोऽभूतार्थो, भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः ।
भूतार्थमाश्रितः खलु, सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥८॥

४०. निच्छयमवलंबंता, निच्छयतो निच्छयं अजाणंता ।
नासंति चरणकरणं, बाहिरकरणालसा केई ॥९॥
निश्चयमवलम्बमाना, निश्चयतः निश्चयम् अजानन्तः ।
नाशयन्ति चरणकरणम्, बाह्यकरणाऽलसाः केचित् ॥९॥

४१. सुद्धो सुद्धादेसो, णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण, जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१०॥
शुद्धः शुद्धादेशो, ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः ।
व्यवहारदेशिताः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे ॥१०॥

४२. निच्छयओ दुण्णेयं, को भावे कम्मि वट्टई समणो ।
ववहारओ य कीरइ, जो पुव्वठिओ चरित्तम्मि ॥११॥
निश्चयतः दुर्ज्ञेयं, कः भावः कस्मिन् वर्तते श्रमणः ? ।
व्यवहारतस्तु क्रियते, यः पूर्वस्थितश्चारित्रे ॥११॥

४३. तम्हा सव्वे वि णया, मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा ।
अन्नोन्नणिस्सिया उण, हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥१२॥
तस्मात् सर्वेऽपि नयाः, मिथ्यादृष्टयः स्वपक्षप्रतिबद्धाः ।
अन्योन्यनिश्रिताः पुनः, भवन्ति सम्यक्त्वसद्भावाः ॥१२॥

४४. कज्जं णाणादीयं, उस्सग्गाववायओ भवे सच्चं ।
तं तह समायरंतो, तं सफलं होइ सव्वं पि ॥१३॥
कार्यं ज्ञानादिकं, उत्सर्गापवादतः भवेत् सत्यम् ।
तत् तथा समाचरन्, तत् सफलं भवति सर्वमपि ॥१३॥

३८. (किन्तु) जैसे अनार्य पुरुष को अनार्य भाषा के विना समझाना सम्भव नहीं है, वैसे ही व्यवहार के विना परमार्थ का उपदेश करना सम्भव नही है ।

३९. व्यवहार अभूतार्थ (असत्यार्थ) है और निश्चय भूतार्थ (सत्यार्थ) है । भूतार्थ का आश्रय लेनेवाला जीव ही सम्यग्-दृष्टि होता है ।

४०. निश्चय का अवलम्बन करनेवाले कुछ जीव निश्चय को निश्चय से न जानने के कारण वाह्य आचरण में आलसी या स्वच्छन्द होकर चरण-करण (आचार-क्रिया) का नाश कर देते है ।

४१. (ऐसे लोगो के लिए आचार्य कहते हैं कि-) परमभाव के द्रष्टा जीवो के द्वारा शुद्ध वस्तु का कथन करनेवाला शुद्धनय (निश्चय-नय) ही ज्ञातव्य है। किन्तु अपरमभाव मे स्थित जनो को व्यवहारनय के द्वारा ही उपदेश करना उचित है।

४२. निश्चय ही यह जानना कठिन है कि कौन श्रमण किस भाव मे स्थित है । अत. जो पूर्व-चारित्र में स्थित हैं, उनका कृतिकर्म (वन्दना) व्यवहारनय के द्वारा चलता है ।

४३. अत. (समझना चाहिए कि) अपने-अपने पक्ष का आग्रह रखने-वाले सभी नय मिथ्या है और परस्पर सापेक्ष होने पर वे ही सम्यक्भाव को प्राप्त हो जाते हैं ।

४४. ज्ञान आदि कार्य उत्सर्ग (सामान्य विधि) एवं अपवाद (विशेष विधि) से सत्य होते है । वे इस तरह किये जायँ कि सब कुछ सफल हो ।

५. संसारचक्रसूत्र

४५. अधुवे असासयम्मि, संसारम्मि दुक्खपउराए ।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाऽहं दुग्गइं न गच्छेज्जा ? ॥१॥
अध्रुवेऽशाश्वते, ससारे दुःखप्रचुरके ।
किं नाम भवेत् तत् कर्मक, येनाहं दुर्गति न गच्छेयम् ॥१॥

४६. खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥२॥
क्षणमात्रसौख्या बहुकालदुःखा, प्रकामदुःखा अनिकामसौख्या ।
ससारमोक्षस्य विपक्षभूता, खानिरनर्थाना तु कामभोगाः ॥२॥

४७. सुट्ठुवि मग्गिज्जंतो, कत्थ वि केलीइ नत्थि जह सारो ।
इंदिअविसएसु तहा, नत्थि सुहं सुट्ठु वि गविट्ठं ॥३॥
सुष्ठ्वपि मार्ग्यमाण, कुत्रापि कदल्या नास्ति यथा सारः ।
इन्द्रियविषयेषु तथा, नास्ति सुख सुष्ठ्वपि गवेषितम् ॥३॥

४८. नरविबुहेसरसुक्खं, दुक्खं परमत्थओ तयं बिंति ।
परिणामदारुणमसासयं च जं ता अलं तेण ॥४॥
नरविबुधेश्वरसौख्य, दुःख परमार्थतस्तद् ब्रुवते ।
परिणामदारुणमशाश्वत, च यत् तस्मात् अल तेन ॥४॥

४९. जह कच्छुल्लो कच्छुं, कंडयमाणो दुहं मुणइ सुक्खं ।
मोहाउरा मणुस्सा, तह कामदुहं सुहं बिंति ॥५॥
यथा कच्छुरः कच्छुं, कण्डूयन् दुःख मनुते सौख्यम् ।
मोहातुरा मनुष्या, तथा कामदुःख सुख ब्रुवन्ति ॥५॥

५०. भोगामिसदोसविसण्णे, हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मन्दिए मूढे, बज्झई मच्छिया व खेलम्मि ॥६॥
भोगामिषदोषविषण्ण, हितनिःश्रेयसबुद्धिविपर्यस्त ।
बालश्च मन्दित मूढ, बध्यते मक्षिकेव श्लेष्मणि ॥६॥

५. संसारचक्रसूत्र

४५. अध्रुव, अशाश्वत और दुःख-बहुल संसार में ऐसा कौन-सा कर्म है, जिससे मैं दुर्गति में न जाऊँ।

४६. ये काम-भोग क्षणभर सुख और चिरकाल तक दुःख देनेवाले हैं, बहुत दुःख और थोड़ा सुख देनेवाले हैं, संसार-मुक्ति के विरोधी और अनर्थों की खान हैं।

४७. बहुत खोजने पर भी जैसे केले के पेड़ में कोई सार दिखाई नहीं देता, वैसे ही इन्द्रिय-विषयों में भी कोई सुख दिखाई नहीं देता।

४८. नरेन्द्र-सुरेन्द्रादि का सुख परमार्थतः दुःख ही है। वह है तो क्षणिक, किन्तु उसका परिणाम दारुण होता है। अतः उससे दूर रहना ही उचित है।

४९. खुजली का रोगी जैसे खुजलाने पर दुःख को भी सुख मानता है, वैसे ही मोहातुर मनुष्य कामजन्य दुःख को सुख मानता है।

५०. आत्मा को दूषित करनेवाले भोगामिष (आसक्ति-जनक भोग) में निमग्न, हित और श्रेयस् में विपरीत बुद्धिवाला, अज्ञानी, मन्द और मूढ़ जीव उसी तरह (कर्मों से) बँध जाता है, जैसे श्लेष्म में मक्खी।

५१. जाणिज्जइ चिन्तिज्जइ, जम्मजरामरणसंभवं दुक्खं ।
न य विसएसु विरज्जई, अहो सुवद्धो कवडगंठो ॥७॥
जानाति चिन्तयति, जन्मजरामरणसम्भव दु खम् ।
न च विषयेषु विरज्यते, अहो सुवद्ध. कपटग्रन्थि ॥७॥

५२-५४. जो खलु संसारत्थो, जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥८॥
गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इंदियाणि जायंते ।
तेहिं दु विसयग्गहणं, तत्तो रागो वा दोसो वा ॥९॥
जायदि जीवस्सेवं, भावो संसारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो, अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥१०॥
य खलु संसारस्थो, जीवस्ततस्तु भवति परिणाम ।
परिणामात् कर्म, कर्मत भवति गतिषु गति. ॥८॥
गतिमधिगतस्य देहो, देहादिन्द्रियाणि जायन्ते ।
तैस्तु विषयग्रहण, ततो रागो वा द्वेषो वा ॥९॥
जायते जीवस्यैव, भाव. संसारचक्रवाले ।
इति जिनवरैर्भणितो-ऽनादिनिधन. सनिधनो वा ॥१०॥

५५. जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जंतवो ॥११॥
जन्म दु खं, जरा दुक्ख रोगाश्च मरणानि च ।
अहो दु ख खलु संसार , यत्र क्लिश्यन्ति जन्तव. ॥११॥

६. कर्मसूत्र

५६. जो जेण पगारेणं, भावो णियओ तमन्नहा जो तु ।
मन्नति करेति वदति व, विप्परियासो भवे एसो ॥१॥
यो येन प्रकारेण, भाव. नियतः तम् अन्यथा यस्तु ।
मन्यते करोति वदति वा, विपर्यासो भवेद् एष ॥१॥

५१. जीव जन्म, जरा और मरण से होनेवाले दु ख को जानता है, उसका विचार भी करता है, किन्तु विषयो से विरक्त नही हो पाता । अहो! माया (दम्भ) की गाँठ कितनी सुदृढ़ होती है।

५२–५४. संसारी जीव के (राग-द्वेषरूप) परिणाम होते है । परिणामो से कर्म-वध होता है । कर्म-वध के कारण जीव चार गतियो मे गमन करता है—जन्म लेता है । जन्म से शरीर और शरीर से इन्द्रियाँ प्राप्त होती है । उनसे जीव विषयो का ग्रहण (सेवन) करता है । उससे फिर राग-द्वेप पैदा होता है । इस प्रकार जीव संसारचक्र मे परिभ्रमण करता है । उसके परिभ्रमण का हेतुभूत परिणाम (सम्यग्दृष्टि उपलब्ध न होने पर) अनादि-अनन्त और (सम्यग्दृष्टि के उपलब्ध होने पर) अनादि-सान्त होता है।

५५. जन्म दु.ख है, बुढापा दु ख है, रोग दु ख है और मृत्यु दु ख है। अहो! ससार दु ख ही है, जिसमे जीव क्लेश पा रहे है।

६. कर्मसूत्र

५६. जो भाव जिस प्रकार से नियत है, उसे अन्य रूप से मानना, कहना या करना विपर्यास या विपरीत वुद्धि है ।

५७. जं जं समयं जीवो आविसइ जेण जेण भावेण ।
सो तंमि तंमि समए, सुहासुहं बंधए कम्मं ॥२॥
य य समय जीव, आविशति येन येन भावेन ।
स तस्मिन् समये, शुभाशुभ वध्नाति कर्म ॥२॥

५८. कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागु व्व मट्टियं ॥३॥
कायेन वचसा मत्त, वित्ते गृद्धश्च स्त्रीषु ।
द्विधा मल सचिनोति, शिशुनाग इव मृत्तिकाम् ॥३॥

५९. न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा ।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥४॥
न तस्य विभजन्ते ज्ञातय , न मित्रवर्गा न सुता न वान्धवा ।
एक स्वय प्रत्यनुभवति दु ख, कर्तारमेवानुयाति कर्म ॥४॥

६०. कम्मं चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परव्वसा होंति ।
रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलइ स परव्वसो तत्तो ॥५॥
कर्म चिन्वन्ति स्ववशा , तस्योदये तु परवशा भवन्ति ।
वृक्षमारोहति स्ववश , विगलति स परवश तत ॥५॥

६१. कम्मवसा खलु जीवा, जीववसाइं कहिंचि कम्माइं ।
कत्थइ धणिओ वलवं, धारणिओ कत्थई वलवं ॥६॥
कर्मवशा. खलु जीवा , जीववशानि कुत्रचित् कर्माणि ।
कुत्रचित् धनिक वलवान् , धारणिक. कुत्रचित् वलवान् ॥६॥

६२. कम्मत्तणेण एक्कं, दव्वं भावो त्ति होदि दुविहं तु ।
पोग्गलपिंडो दव्वं, तस्सत्ती भावकम्मं तु ॥७॥
कर्मत्वेन एकं, द्रव्य भाव इति भवति द्विविध तु ।
पुद्गलपिण्डो द्रव्य, तच्छक्ति भावकर्म तु ॥७॥

६३. जो इंदियादिविजई, भवीय उवओगमप्पगं झादि ।
कम्मेहिं सो ण रंजदि, किह तं पाणा अणुचरंति ॥८॥
य इन्द्रियादिविजयी, भूत्वोपयोगमात्मक ध्यायति ।
कर्मभि. स न रज्यते, कस्मात् त प्राणा अनुचरन्ति ॥८॥

५७ जिस समय जीव जैसे भाव करता है, वह उस समय वैसे ही शुभ-अशुभ कर्मो का वन्ध करता है ।

५८. (प्रमत्त मनुष्य) शरीर और वाणी से मत्त होता है तथा धन और स्त्रियो मे गृद्ध होता है । वह राग और द्वेप—दोनो से उसी प्रकार कर्म-मल का सचय करता है, जैसे शिशुनाग (अलस या केचुआ) मुख और शरीर—दोनो से मिट्टी का सचय करता है ।

५९. ज्ञाति, मित्र-वर्ग, पुत्र और वान्धव उसका दु ख नही वँटा सकते । वह स्वय अकेला दु:ख का अनुभव करता है । क्योकि कर्म कर्त्ता का अनुगमन करता है ।

६०. जीव कर्मो का वन्ध करने मे स्वतत्र है, परन्तु उस कर्म का उदय होने पर भोगने मे उसके अधीन हो जाता है । जैसे कोई पुरुष स्वेच्छा से वृक्ष पर तो चढ जाता है, किन्तु प्रमाद-वश नीचे गिरते समय परवश हो जाता है ।

६१. कही जीव कर्म के अधीन होते है तो कही कर्म जीव के अधीन होते है । जैसे कही (ऋण देते समय तो) धनी वलवान् होता है तो कही (ऋण लौटाते समय) कर्जदार वलवान् होता है ।

६२. सामान्य की अपेक्षा कर्म एक है और द्रव्य तथा भाव की अपेक्षा दो (प्रकार का) है । कर्म-पुद्गलो का पिण्ड द्रव्यकर्म है और उसमे रहनेवाली शक्ति या उनके निमित्त से जीव मे होनेवाले राग द्वेषरूप विकार भावकर्म है ।

६३ जो इन्द्रिय आदि पर विजय प्राप्त कर उपयोगमय (ज्ञानदर्शन-मय) आत्मा का ध्यान करता है, वह कर्मों से नही वँधता । अत. पौद्गलिक प्राण उसका अनुसरण कैसे कर सकते है ? (अर्थात् उसे नया जन्म धारण नही करना पडता ।)

६४-६५. नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥९॥
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥१०॥
ज्ञानस्यावरणीय, दर्शनावरण तथा।
वेदनीय तथा मोहम्, आयु कर्म तथैव च ॥९॥
नामकर्म च गोत्र च, अन्तराय तथैव च।
एवमेतानि कर्माणि, अष्टैव तु समागत ॥१०॥

६६. पड-पडिहार-सि-मज्ज, हड-चित्त-कुलाल-भंडगारीणं।
जह एएसि भावा, कम्माण वि जाण तह भावा ॥११॥*
पट प्रतिहारासि-मद्य, हडि-चित्र-कुलाल-भाण्डागारिणाम्।
यथा एतेषा भावा, कर्मणाम् अपि जानीहि तथा भावान् ॥११॥

७. मिथ्यात्वसूत्र

६७. हा! जह मोहियमइणा, सुग्गइमग्गं अजाणमाणेणं।
भीमे भवकंतारे, सुचिरं भमियं भयकरम्मि ॥१॥
हा! यथा मोहितमतिना, सुगतिमार्गमजानता।
भीमे भवकान्तारे, सुचिर भ्रान्त भयंकरे ॥१॥

६८. मिच्छत्तं वेदंतो जीवो, विवरीयदंसणो होइ।
ण य धम्मं रोचेदि हु, महुरं पि रसं जहा जरिदो ॥२॥
मिथ्यात्व वेदयन् जीवो, विपरीतदर्शनो भवति
न च धर्म रोचते हि, मधुर रस यथा ज्वरित ॥२॥

---

* स्पष्टीकरण : १ जैसे परदा कमरे के भीतर की वस्तु का ज्ञान नही होने देता वैसे ही ज्ञानावरण-कर्म ज्ञान को रोकने या अल्पाधिक करने मे निमित्त हैं। इसके उदय की हीनाधिकता के कारण कोई विशिष्टज्ञानी और कोई अल्पज्ञानी होता है। २ जैसे द्वारपाल दर्शनार्थियो को राजदर्शन आदि से रोकता है, वैसे ही दर्शन का आवरण करनेवाला दर्शनावरण-कर्म है। ३ जैसे तलवार की धार पर लगा मधु चाटने से मधुर स्वाद अवश्य आता है, फिर भी जीभ के कट जाने का असह्य दुख भी होता है, वैसे ही वेदनीय-कर्म सुख-दुख का निमित्त है। ४ जैसे मद्यपान से मनुष्य मदहोश हो जाता है—सुध-बुध खो बैठता है, वैसे ही मोहनीय-कर्म के उदय से विवश जीव →

६४-६५. ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—ये संक्षेप मे आठ कर्म हैं ।

६६. इन कर्मो का स्वभाव परदा, द्वारपाल, तलवार, मद्य, हलि, चित्रकार, कुम्भकार तथा भण्डारी के स्वभाव की तरह है ।

७. मिथ्यात्वसूत्र

६७ हा ! खेद है कि सुगति का मार्ग न जानने के कारण मै मूढमति भयानक तथा घोर भव-वन में चिरकाल तक भ्रमण करता रहा ।

६८ जो जीव मिथ्यात्व से ग्रस्त होता है उसकी दृष्टि विपरीत हो जाती है। उसे धर्म भी रुचिकर नही लगता, जैसे ज्वरग्रस्त मनुष्य को मीठा रस भी अच्छा नही लगता ।

अपने स्वरूप को भूल जाता है । ५ जैसे हलि (काठ) मे पांव फंसा देने पर मनुष्य रुका रह जाता है, वैसे ही आयु-कर्म के उदय से जीव शरीर मे निश्चित समय तक रुका रहता है । ६ जैसे चित्रकार नाना प्रकार के चित्र बनाता है, वैसे ही नाम-कर्म के उदय से जीवो के नानाविध देहो की रचना होती है। ७ जैसे कुम्भकार छोटे-बड़े बर्तन बनाता है, वैसे ही गोत्र-कर्म के उदय से जीव को उच्चकुल या नीचकुल मिलता है। ८ जैसे भण्डारी (खजाची) दाता को देने से और याचक को लेने से रोकता है, वैसे ही अन्तराय-कर्म के उदय से दान-लाभ आदि मे बाधा पड़ती है। इस तरह ये आठों कर्मो के स्वभाव हैं ।

६९. मिच्छत्तपरिणदप्पा, तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो ।
जीवं देहं एक्कं, मण्णंतो होदि बहिरप्पा ॥३॥
मिथ्यात्वपरिणतात्मा, तीव्रकषायेण सुष्ठु आविष्ट ।
जीव देहमेक, मन्यमान भवति बहिरात्मा ॥३॥

७०. जो जहवायं न कुणई, मिच्छादिट्ठी तओ हु को अन्ना ।
वड्ढइ य मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो ॥४॥
यो यथावाद न करोति, मिथ्यादृष्टि तत. खलु क. अन्य ।
वर्धते च मिथ्यात्व, परस्य शका जनयमान ॥४॥

८. राग-परिहारसूत्र

७१. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥१॥
रागश्च द्वेषो पि च कर्मबीज, कर्म च मोहप्रभव वदन्ति ।
कर्म च जातिमरणस्य मूलम्, दु ख च जातिमरण वदन्ति ॥१॥

७२. न वि तं कुणइ अमित्तो, सुट्ठु वि य विराहिओ समत्थो वि ।
जं दो वि अनिग्गहिया, करंति रागो य दोसो य ॥२॥
नैव तत् करोति अमित्र, सुष्ठ्वपि च विराद्ध. समर्थोऽपि ।
यद् द्वावपि अनिगृहीतौ, कुरुतो रागश्च द्वेषश्च ॥२॥

७३. न य संसारम्मि सुहं, जाइजरामरणदुक्खगहियस्स ।
जीवस्स अत्थि जम्हा, तम्हा मुक्खो उवादेओ ॥३॥
न च ससारे सुखं, जातिजरामरणदु खगृहीतस्य ।
जीवस्यास्ति यस्मात्, तस्माद् मोक्ष उपादेय. ॥३॥

७४. तं जइ इच्छसि गंतुं, तीरं भवसायरस्स घोरस्स ।
तो तवसंजमभंडं, सुविहिय! गिण्हाहि तूरंतो ॥४॥
तद् यदीच्छसि गन्तु, तीरं भवसागरस्य घोरस्य ।
तर्हि तप सयमभाण्डं, सुविहित! गृहाण त्वरमाण· ॥४॥

६९ मिथ्यादृष्टि जीव तीव्र कषाय से पूरी तरह आविष्ट होकर जीव और शरीर को एक मानता है। वह वहिरात्मा है।

७०. जो तत्त्व-विचार के अनुसार नही चलता, उससे वडा मिथ्या-दृष्टि और दूसरा कौन हो सकता है? वह दूसरो को शकाशील वनाकर अपने मिथ्यात्व को वढाता रहता है।

८. राग-परिहारसूत्र

७१ राग और द्वेष कर्म के वीज (मूल कारण) है। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। वह जन्म-मरण का मूल है। जन्म-मरण को दुःख का मूल कहा गया है।

७२ अत्यन्त तिरस्कृत समर्थ शत्रु भी उतनी हानि नही पहुँचाता, जितनी हानि अनिगृहीत राग और द्वेष पहुँचाते है।

७३ इस ससार में जन्म, जरा और मरण के दुःख से ग्रस्त जीव को कोई सुख नही है। अत मोक्ष ही उपादेय है।

७४ यदि तू घोर भवसागर के पार (तट पर) जाना चाहता है, तो हे सुविहित! शीघ्र ही तप-सयमरूपी नौका को ग्रहण कर।

७५. वहुभयंकरदोसाणं, सम्मत्तचरित्तगुणविणासाणं ।
न हु वसमागंतव्वं, रागद्दोसाण पावाणं ।।५।।
वहुभयकरदोपयो, सम्यक्त्वचारित्रगुणविनाशयो ।
न खलु वगमागन्तव्य, रागद्वेपयो. पापयो. ।।५।।

७६. कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ।।६।।
कामानुगृद्धिप्रभव खलु दु ख, सर्वस्य लोकस्य सदेवकस्य ।
यत् कायिक मानसिक च किञ्चित्, तस्यान्तक गच्छति वीतराग ।

७७. जेण विरागो जायइ, तं तं सव्वायरेण करणिज्जं ।
मुच्चइ हु ससंवेगी, अणंतवो होइ असंवेगी ।।७।।
येन विरागो जायते, तत्तत् सर्वादरेण करणीयम् ।
मुच्यते एव ससवेग, अनन्तक. भवति असवेगा ।।७।।

७८. एवं ससंकप्पविकप्पणासुं, संजायई समयमुवट्ठियस्स ।
अत्थे य संकप्पयओ तओ से, पहीयए कामगुणेसु तण्हा ।।८।।
एव स्वसकल्पविकल्पनासु, सजायते समतोपस्थितस्य ।
अर्थाश्च सकल्पयतस्तस्य, प्रहीयते कामगुणेपु तृष्णा ।।८।।

७९. अन्नं इमं सरीरं, अन्नो जीवु त्ति निच्छियमईओ ।
दुक्खपरीकेसकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ ।।९।।
अन्यदिद शरीर, अन्यो जीव इति निश्चयमतिक ।
दु खपरिक्लेशकर, छिन्धि ममत्व शरीरात् ।।९।।

८०. कम्मासवदाराइं, निरुंभियव्वाइं इंदियाइं च ।
हंतव्वा य कसाया, तिविहं-तिविहेण मुक्खत्थं ।।१०।।
कर्मास्रवद्वाराणि, निरोद्धव्यानीन्द्रियाणि च ।
हन्तव्याश्च कपायास्त्रिविधत्रिविधेन मोक्षार्थम् ।।१०।।

८१. भावे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ।।११।।
भावे विरक्तो मनुजो विशोक, एतया दु खौघपरम्परया ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्, जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ।।११।।

७५ सम्यक्त्व तथा चारित्रादि गुणो के विनाशक, अत्यन्त भयकर राग-द्वेषरूपी पापो के वश मे नही होना चाहिए ।

७६ सब जीवो का, और क्या देवताओ का भी जो कुछ कायिक और मानसिक दु ख है, वह काम-भोगो की सतत अभिलाषा से उत्पन्न होता है । वीतरागी उस दु ख का अन्त पा जाता है ।

७७ जिससे विराग उत्पन्न होता है, उसका आदरपूर्वक आचरण करना चाहिए । विरक्त व्यक्ति ससार-बन्धन से छूट जाता है और आसक्त व्यक्ति का संसार अनन्त होता जाता है ।

७८ अपने राग-द्वेपात्मक सकल्प ही सब दोपो के मूल है—जो इस प्रकार के चिन्तन मे उद्यत होता है तथा इन्द्रिय-विषय दोपो के मूल नही है—इस प्रकार का सकल्प करता है, उसके मन मे समता उत्पन्न होती है । उससे उसकी काम-गुणो मे होनेवाली तृष्णा प्रक्षीण हो जाती है ।

७९ निश्चयदृष्टि के अनुसार शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है । अत शरीर के प्रति होनेवाले दु खद व क्लेशकर ममत्व का छेदन करो ।

८०. मोक्ष की प्राप्ति के लिए कर्म के आगमन-द्वारो—आस्रवो का तथा इन्द्रियो का तीन करण (मनसा, वाचा, कर्मणा) और तीन योग (कृत, कारित, अनुमति) से निरोध करो, और कपायो का अन्त करो ।

८१ भाव से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है । जैसे कमलिनी का पत्र जल मे लिप्त नही होता, वैसे ही वह ससार मे रहकर भी अनेक दु खो की परम्परा से लिप्त नही होता ।

९. धर्मसूत्र

८२. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥
धर्म मङ्गलमुत्कृष्ट, अहिंसा सयम तप ।
देवा अपि त नमस्यन्ति, यस्य धर्मे सदा मन ॥१॥

८३. धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥२॥
धर्म वस्तुस्वभाव., क्षमादिभाव च दशविधः धर्म ।
रत्नत्रय च धर्म, जीवाना रक्षण धर्म ॥२॥

८४. उत्तमखममद्दवज्जव-सच्चसउच्चं च संजमं चेव ।
तवचागमकिंचण्हं, बम्ह इदि दसविहो धम्मो ॥३॥
उत्तमक्षमामार्दवार्जव-सत्यशौच च सयम चैव ।
तपस्त्याग आकिञ्चन्य, ब्रह्म इति दशविध' धर्म ॥३॥

८५. कोहेण जो ण तप्पदि, सुर-णर-तिरिएहि कीरमाणे वि ।
उवसग्गे वि रउद्दे, तस्स खमा णिम्मला होदि ॥४॥
क्रोधेन य न तप्यते, सुरनरतिर्यग्भि क्रियमाणेऽपि ।
उपसर्गे अपि रौद्रे, तस्य क्षमा निर्मला भवति ॥४॥

८६. खम्मामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झं ण केण वि ॥५॥
क्षमे सर्वजीवान्, सर्वे जीवा क्षमन्ताँ मम ।
मैत्री मे सर्वभूतेषु, वैर मम न केनापि ॥५॥

८७. जइ किंचि पमाएणं, न सुट्ठु भे वट्टियं मए पुव्विं ।
तं मे खामेमि अहं, निस्सल्लो निक्कसाओ अ ॥६॥
यदि किञ्जित् प्रमादेन, न सुष्ठु युष्माभि सह वर्तित मया पूर्वम् ।
तद् युष्मान् क्षमयाम्यह, नि शल्यो निष्कषायश्च ॥६॥

९. धर्मसूत्र

८२ धर्म उत्कृष्ट मगल है । अहिंसा, सयम और तप उसके लक्षण हैं । जिसका मन सदा धर्म मे रमा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं ।

८३. वस्तु का स्वभाव धर्म है । क्षमा आदि भावो की अपेक्षा से वह दस प्रकार का है । रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) तथा जीवो की रक्षा करना धर्म है ।

८४ उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य तथा उत्तम ब्रह्मचर्य—ये दस धर्म हैं ।

८५ देव, मनुष्य और तिर्यञ्चो (पशुओ) के द्वारा घोर व भयानक उपसर्ग पहुँचाने पर भी जो क्रोध से तप्त नही होता, उसके निर्मल क्षमाधर्म होता है ।

८६. मैं सब जीवो को क्षमा करता हूँ । सब जीव मुझे क्षमा करे । मेरा सब प्राणियो के प्रति मैत्रीभाव है । मेरा किसीसे भी वैर नही है ।

८७ अल्पतम प्रमादवश भी यदि मैने आपके प्रति उचित व्यवहार नही किया हो तो मै नि शल्य और कषायरहित होकर आपसे क्षमा-याचना करता हूँ ।

८८. कुलरूवजादिबुद्धिसु, तवसुदसीलेसु गारवं किंचि ।
जो णवि कुव्वदि समणो, मद्दवधम्मं हवे तस्स ॥७॥
कुलरूपजातिवुद्धिपु, तप श्रुतशीलेपु गौरव किञ्चित् ।
य नैव करोति श्रमण, मार्दवधर्मो भवेत् तस्य ॥७॥

८९. जो अवमाणकरणं, दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्तो ।
सो णाम होदि माणी, ण दु गुणचत्तेण माणेण ॥८॥
योऽपमानकरण, दोप परिहरति नित्यमायुक्त ।
सो नाम भवति मानी, न गुणत्यक्तेन मानेन ॥८॥

९०. से असइं उच्चागोए असइं नीआगोए, नो हीणे नो अइरित्ते ।
नोऽपीहए इति संखाए, के गोयावाई के माणावाई ? ॥९॥
स असकृदुच्चैर्गोत्र असकृन्नीचैर्गोत्र, नो हीन नो अतिरिक्त ।
न स्पृह्येत् इति सख्याय, को गोत्रवादी को मानवादी ? ॥९॥

९१. जो चिंतेइ ण वंकं, ण कुणदि वंकं ण जंपदे वंकं ।
ण य गोवदि णियदोसं, अज्जव-धम्मो हवे तस्स ॥१०॥
य चिन्तयति न वक्र, न करोति वक्र न जल्पति वक्रम् ।
न च गोपयति निजदोपम्, आर्जवधर्म भवेत् तस्य ॥१०॥

९२. परसंतावयकारण-वयणं, मोत्तूण सपरहिदवयणं ।
जो वददि भिक्खु तुरियो, तस्स दु धम्मो हवे सच्चं ॥११॥
परसतापककारण-वचन, मुक्त्वा स्वपरहितवचनम् ।
य वदन्ति भिक्षु तुरीय, तस्य तु धर्म भवेत् सत्यम् ॥११॥

९३. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥१२॥
मृपावाक्यस्य पश्चाच्च पुरस्ताच्च, प्रयोगकाले च दु खी दुरन्त ।
एवमदत्तानि समाददान, रूपेऽतृप्तो दु खितोऽनिश्र ॥१२॥

९४. पत्थं हिदयाणिट्ठं पि, भण्णमाणस्स सगणवासिस्स ।
कडुगं व ओसहं तं, महुरविवायं हवइ तस्स ॥१३॥
पथ्य हृदयानिष्टमपि, भणमानस्य स्वगणवासिन ।
कटुकमिवौषध तत्, मधुरविपाकं भवति तस्य ॥१३॥

८८. जो श्रमण कुल, रूप, जाति, ज्ञान, तप, श्रुत और शील का तनिक भी गर्व नहीं करता, उसके मार्दवधर्म होता है ।

८९. जो दूसरे को अपमानित करने के दोष का सदा सावधानीपूर्वक परिहार करता है, वही यथार्थ मे मानी है । गुणशून्य अभिमान करने से कोई मानी नहीं होता ।

९०. यह पुरुष अनेक वार उच्चगोत्र और अनेक वार नीचगोत्र का अनुभव कर चुका है । अतः न कोई हीन है और न कोई अतिरिक्त; (इसलिए वह उच्च गोत्र की) स्पृहा न करे । [यह पुरुष अनेक वार उच्चगोत्र और नीचगोत्र का अनुभव कर चुका है—] यह जान लेने पर कौन गोत्रवादी होगा ? कौन मानवादी होगा ?

९१. जो कुटिल विचार नही करता, कुटिल कार्य नही करता, कुटिल वचन नहीं बोलता और अपने दोषो को नही छिपाता, उसके आर्जव-धर्म होता है ।

९२. जो भिक्षु (श्रमण) दूसरो को सन्ताप पहुँचानेवाले वचनो का त्याग करके स्व-पर-हितकारी वचन बोलता है, उसके चौथा सत्यधर्म होता है ।

९३. असत्य भाषण के पश्चात् मनुष्य यह सोचकर दु खी होता है कि वह झूठ बोलकर भी सफल नही हो सका । असत्य भाषण से पूर्व इसलिए व्याकुल रहता है कि वह दूसरे को ठगने का सकल्प करता है । वह इसलिए भी दु खी रहता है कि कहीं कोई उसके असत्य को जान न ले । इस प्रकार असत्य-व्यवहार का अन्त दु खदायी ही होता है । इसी तरह विषयो मे अतृप्त होकर वह चोरी करता हुआ दु खी और आश्रयहीन हो जाता है ।

९४. अपने गणवासी (साथी) द्वारा कही हुई हितकर वात, भले ही वह मन को प्रिय न लगे, कटुक औषध की भाँति परिणाम मे मधुर ही होती है ।

९५. विस्ससणिज्जो माया व, होइ पुज्जो गुरु व्व लोअस्स ।
सयणु व्व सच्चवाई, पुरिसो सव्वस्स होइ पिओ ॥१४॥
विश्वसनीयो मातेव, भवति पूज्यो गुरुरिव लोकस्य ।
स्वजन इव सत्यवादी, पुरुप सर्वस्य भवति प्रिय ॥१४॥

९६. सच्चम्मि वसदि तवो, सच्चम्मि संजमो तह वसे सेसा वि गुणा ।
सच्चं णिबंधणं हि य, गुणाणमुदधीव मच्छाणं ॥१५॥
सत्ये वसति तप , सत्ये संयम तथा वसन्ति शेपा अपि गुणा ।
सत्य निवन्धन हि च, गुणानामुदधिरिव मत्स्यानाम् ॥१५॥

९७. जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई ।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥१६॥
यथा लाभस्तथा लोभ , लाभाल्लोभ प्रवर्धते
द्विमापकृत कार्यं, कोटयाऽपि न निष्ठितम् ॥१६॥

९८ सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ॥१७॥
सुवर्णरूप्यस्य च पर्वता भवेयु. स्यात् खलु कैलाससमा असख्यका ।
नरस्य लुब्धस्य न तै किञ्चित्, इच्छा खलु आकाशसमा अनन्तिका॥

९९. जहा य अंडप्पभवा बलागा, अंडं बलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा, मोहं च तण्हाययणं वयंति ॥१८॥
यथा च अण्डप्रभवा वलाका, अण्ड वलाकाप्रभव यथा च ।
एवमेव मोहायतन खलु तृष्णा, मोह च तृष्णायतन वदन्ति ॥१८॥

१००. समसंतोसजलेणं, जो धोवदि तिव्व-लोहमल-पुंजं ।
भोयण-गिद्धि-विहीणो, तस्स सउच्चं हवे विमलं ॥१९॥
समसन्तोपजलेन, य धोवति तीव्रलोभमलपुञ्जम् ।
भोजनगृद्धिविहीन , तस्य शौचं भवेत् विमलम् ॥१९॥

१०१. वय-समिदि-कसायाणं, दंडाणं तह इंदियाण पंचण्हं ।
धारण-पालण-णिग्गह-चाय-जओ संजमो भणिओ ॥२०॥
व्रतसमितिकपायाणा, दण्डाना तथा इन्द्रियाणा पञ्चानाम् ।
धारण-पालन-निग्रह-त्यागजय. संयमो भणित. ॥२०॥

९५. सत्यवादी मनुष्य माता की तरह विश्वसनीय, जनता के लिए गुरु की तरह पूज्य और स्वजन की भाँति सबको प्रिय होता है ।

९६. सत्य मे तप, सयम और शेष समस्त गुणो का वास होता है। जैसे समुद्र मत्स्यो का आश्रयस्थान है, वैसे ही सत्य समस्त गुणो का आश्रयस्थान है ।

९७ जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ होता है। लाभ से लोभ बढता जाता है। दो माशा सोने से निष्पन्न (पूरा) होनेवाला कार्य करोड़ो स्वर्ण-मुद्राओ से भी पूरा नही होता । (यह निष्कर्ष कपिल नामक व्यक्ति की तृष्णा के उतार-चढाव के परिणाम को सूचित करता है ।)

९८. कदाचित् सोने और चाँदी के कैलास के समान असख्य पर्वत हो जायँ, तो भी लोभी पुरुष को उनसे कुछ भी नही होता (तृप्ति नहीं होती), क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है ।

९९ जैसे बलाका अण्डे से उत्पन्न होती है और अण्डा बलाका से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार तृष्णा मोह से उत्पन्न होती है और मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है ।

१००. (अत) जो समता व सन्तोषरूपी जल से तीव्र लोभरूपी मल-समूह को धोता है और जिसमे भोजन की लिप्सा नहीं है, उसके विमल शौचधर्म होता है ।

१०१. व्रत-धारण, समिति-पालन, कषाय-निग्रह, मन-वचन-काया की प्रवृत्तिरूप दण्डो का त्याग, पचेन्द्रिय-जय—इन सबको सयम कहा जाता है ।

१०२. विसयकसाय-विणिग्गहभावं, काऊण झाणसज्झाए ।
जो भावइ अप्पाणं, तस्स तवं होदि णियमेण ।।२१।।
विषयकषाय-विनिग्रहभाव, कृत्वा ध्यानस्वाध्यायान् ।
य भावयति आत्मान, तस्य तप भवति नियमेन ।।२१।।

१०३. णिव्वेदतियं भावइ, मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु ।
जो तस्स हवे चागो, इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ।।२२।।
निर्वेदत्रिक भावयति, मोह त्यक्त्वा सर्वद्रव्येषु ।
य तस्य भवति त्याग , इति भणित जिनवरेन्द्रै. ।।२२।।

१०४. जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठिकुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चई ।।२३।।
य. च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धान् विपृष्ठीकरोति :
स्वाधीनान् त्यजति भोगान्, स हि त्यागी इति उच्यते ।।२३।।

१०५. होऊण य णिस्संगो, णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं ।
णिद्दंदेण दु वट्टदि, अणयारो तस्साऽऽकिंचण्णं ।।२४।।
भूत्वा च निस्संग', निजभाव निगृह्य सुखदु खदम् ।
निर्द्वन्द्वेन तु वर्तते, अनगार. तस्याऽऽकिञ्चन्यम् ।।२४।।

१०६. अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदाऽरूवी :
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमित्तं पि ।।२५।।
अहमेक खलु शुद्धो, दर्शनज्ञानमय. सदाऽरूपी ;
नाप्यस्ति मम किञ्चिदप्यन्यत् परमाणुमात्रमपि ।।२५।।

१०७-१०८. सुहं वसामो जीवामो, जेसिं णो नत्थि किंचण ।
मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचण ।।२६।।
चत्तपुत्तकलत्तस्स, निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जई किंचि, अप्पियं पि न विज्जए ।।२७।।
सुखं वसामो जीवाम., येषाम् अस्माकनास्ति किञ्चन ।
मिथिलायां दह्यमानायां, न मे दह्यते किञ्चन ।।२६।।
त्यक्तपुत्रकलत्रस्य, निर्व्यापारस्य भिक्षो. ।
प्रियं न विद्यते किञ्चित्, अप्रियमपि न विद्यते ।।२७।।

१०२. इन्द्रिय-विषयो तथा कषायो का निग्रह कर ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा जो आत्मा को भावित करता है उसीके तपधर्म होता है ।

१०३ सब द्रव्यो मे होनेवाले मोह को त्यागकर जो त्रिविध निर्वेद (ससार देह तथा भोगो के प्रति वैराग्य) से अपनी आत्मा को भावित करता है, उसके त्यागधर्म होता है, ऐसा जिनेन्द्र-देव ने कहा है ।

१०४. त्यागी वही कहलाता है, जो कान्त और प्रिय भोग उपलब्ध होने पर उनकी ओर से पीठ फेर लेता है और स्वाधीनतापूर्वक भोगो का त्याग करता है ।

१०५. जो मुनि सब प्रकार के परिग्रह का त्याग कर नि सग हो जाता है, अपने सुखद व दु खद भावो का निग्रह करके निर्द्वन्द्व विचरता है, उसके आकिंचन्य धर्म होता है ।

१०६. मै एक, शुद्ध, दर्शन-ज्ञानमय, नित्य और अरूपी हूँ । इसके अतिरिक्त अन्य परमाणुमात्र भी वस्तु मेरी नही है । (यह आकिंचन्यधर्म है ।)

१०७-१०८. हम लोग, जिनके पास अपना कुछ भी नही है, सुखपूर्वक रहते और सुख से जीते है । मिथिला जल रही है उसमें मेरा कुछ भी नही जल रहा है, क्योकि पुत्र और स्त्रियो से मुक्त तथा व्यवसाय से निवृत्त भिक्षु के लिए कोई वस्तु प्रिय भी नही होती और अप्रिय भी नही होती । (यह बात राज्य त्यागकर साधु हो जानेवाले राजर्षि नमि के दृढ वैराग्य से सम्बद्ध है ।)

१०९. जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥२८॥
यथा पद्म जले जात, नोपलिप्यते वारिणा।
एवमलिप्त कामै, त वय ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२८॥

११०. दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥२९॥
दु ख हत यस्य न भवति मोह , मोहो हतो यस्य न भवति तृष्णा।
तृष्णा हता यस्य न भवति लोभ , लोभो हतो यस्य न किञ्चन।२९॥

१११. जीवो बंभ जीवम्मि, चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो।
तं जाण बंभचेरं, विमुक्कपरदेहतित्तिस्स ॥३०॥
जीवो ब्रह्म जीवे, चैव चर्या भवेत् या यते।
तद् जानीहि ब्रह्मचर्यं, विमुक्त-परदेहतृप्ते ॥३०॥

११२. सव्वंगं पेच्छंतो, इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं।
सो वम्हचेरभावं, सुक्कदि खलु दुद्धरं धरदि ॥३१॥
सर्वाङ्ग प्रेक्षमाण स्त्रीणा तासु मुञ्चति दुर्भावम्।
स ब्रह्मचर्यभाव, सुकृती खलु दुर्धरं धरति ॥३१॥

११३. जउकुंभे जोइउवगूढे, आसुभितत्ते नासमुवयाइ।
एवित्थियाहि अणगारा, संवासेण नासमुवयंति ॥३२॥
जतुकुम्भे ज्योतिरुपगूढ आश्वभितप्तो नाशमुपयाति।
एव स्त्रीभिरनगारा, सवासेन नाशमुपयान्ति ॥३२॥

११४. एए य संगे समइक्कमित्ता, सुदुत्तरा चेव भवंति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गंगासमाणा ॥३३॥
एतांश्च सगान् समतिक्रम्य, सुदुस्तराश्चैव भवन्ति शेषा।
यथा महासागरमुत्तीर्य, नदी भवेदपि गङ्गासमाना ॥३३॥

११५. जह सीलरक्खयाणं, पुरिसाणं णिंदिदाओ महिलाओ।
तह सीलरक्खयाणं, महिलाणं णिंदिदा पुरिसा ॥३४॥
यथा शीलरक्षकाणां, पुरुषाणा निन्दिता भवन्ति महिला.।
तथा शीलरक्षकाणां, महिलानां निन्दिता भवन्ति पुरुषा ॥३४॥

१०९. जिस प्रकार जल मे उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नही होता, इसी प्रकार काम-भोग के वातावरण मे उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उससे लिप्त नही होता, उसे हम ब्राह्मण कहते है ।

११०. जिसके मोह नही है, उसने दु ख का नाश कर दिया । जिसके तृष्णा नही है, उसने मोह का नाश कर दिया । जिसके लोभ नही है, उसने तृष्णा का नाश कर दिया (और) जिसके पास कुछ नही है, उसने लोभ का (ही) नाश कर दिया ।

१११ जीव ही ब्रह्म है । देहासक्ति से मुक्त मुनि की ब्रह्म (आत्मा) के लिए जो चर्या है, वही ब्रह्मचर्य है ।

११२. स्त्रियो के मनोहर सर्वाङ्गो को देखते हुए भी जो इनमे दुर्भाव नही करता—विकार को प्राप्त नही होता, वही वास्तव मे दुर्द्धर ब्रह्मचर्यभाव को धारण करता है ।

११३ जैसे लाख का घडा अग्नि से तप्त होने पर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, वैसे ही स्त्री-सहवास मे अनगार (मुनि) नष्ट हो जाता है ।

११४. जो मनुष्य इन स्त्री-विषयक आसक्तियो का पार पा जाता है, उसके लिए शेष सारी आसक्तियाँ वैसे ही सुतर (सुख से पार पाने योग्य) हो जाती है, जैसे महासागर का पार पानेवाले के लिए गगा जैसी बडी नदी ।

११५. जैसे शील-रक्षक पुरुषो के लिए स्त्रियाँ निन्दनीय है, वैसे ही शीलरक्षिका स्त्रियो के लिए पुरुष निन्दनीय है । (दोनो को एक-दूसरे से बचना चाहिए ।)

११६. किं पुण गुणसहिदाओ, इत्थीओ अत्थि वित्थडजसाओ ।
णरलोगदेवदाओ, देवेहिं वि वंदणिज्जाओ ॥३५॥
किं पुन ? गुणसहिता, स्त्रिय सन्ति विस्तृतयशस ।
नरलोकदेवता देवैरपि वन्दनीया ॥३५॥

११७. तेल्लोक्काडविडहणो, कामग्गी विसयरुक्खपज्जलिओ ।
जोव्वणतणिल्लचारी, जं ण डहइ सो हवइ धण्णो ॥३६॥
त्रैलोक्याटविदहन, कामाग्निर्विषयवृक्षप्रज्वलित ।
यौवनतृणसंचरणचतुर, य न दहति स भवति धन्य ॥३६॥

११८. जा जा वज्जई रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राईओ ॥३७॥
या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्तते ।
अधर्मं कुर्वाणस्य, अफला यान्ति रात्रय ॥३७॥

११९-१२०. जहा य तिण्णि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया ।
एगोऽत्थ लहई लाहं, एगो मूलेण आगओ ॥३८॥
एगो मूलं पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥३९॥
यथा च त्रयो वणिज, मूल गृहीत्वा निर्गता ।
एकोऽत्र लभते लाभम्, एको मूलेन आगत ॥३८॥
एक मूलम् अपि हारयित्वा, आगतस्तत्र वाणिज ।
व्यवहारे उपमा एषा, एव धर्मे विजानीत ॥३९॥

१२१. अप्पा जाणइ अप्पा, जहट्ठिओ अप्पसक्खिओ धम्मो ।
अप्पा करेइ तं तह, जह अप्पसुहावओ होइ ॥४०॥
आत्मान जानाति आत्मा, यथास्थितो आत्मसाक्षिको धर्म ।
आत्मा करोति त तथा, यथा आत्मसुखापको भवति ॥४०॥

१०. संयमसूत्र

१२२. अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं ॥१॥
आत्मा नदी वैतरणी, आत्मा मे कूटशाल्मली ।
आत्मा कामदुघा धेनु, आत्मा मे नन्दन वनम् ॥१॥

११६. किन्तु ऐसी भी शीलगुणसम्पन्न स्त्रियाँ हैं, जिनका यश सर्वत्र व्याप्त है। वे मनुष्य-लोक की देवता हैं और देवों के द्वारा वन्दनीय हैं।

११७. वि यरूपी वृक्षों से प्रज्वलित कामाग्नि तीनों लोकरूपी अटवी को जला देती है, किन्तु यौवनरूपी तृण पर सचरण करने में कुशल जिस महात्मा को वह नही जलाती या विचलित नही करती वह धन्य है।

११८. जो-जो रात बीत रही है वह लौटकर नही आती। अधर्म करनेवाले की रात्रियाँ निष्फल चली जाती है।

११९-१२०. जैसे तीन वणिक् मूल पूंजी को लेकर निकले। उनमे से एक लाभ उठाता है, एक मूल लेकर लौटता है, और एक मूल को भी गँवाकर वापस आता है। यह व्यापार की उपमा है। इसी प्रकार धर्म के विषय मे जानना चाहिए।

१२१. आत्मा ही यथास्थित (निजस्वरूप मे स्थित) आत्मा को जानता है। अतएव स्वभावरूप धर्म भी आत्मसाक्षिक होता है। इस धर्म का पालन (अनुभवन) आत्मा उसी विधि से करता है, जिससे कि वह अपने लिए सुखकारी हो।

१०. संयमसूत्र

१२२ (मेरी) आत्मा ही वैतरणी नदी है। आत्मा ही कूटशाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही कामदुहा धेनु है और आत्मा ही नन्दन-वन है।

१२३. अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ॥२॥
आत्मा कर्ता विकर्ता च, दु खाना च सुखाना च।
आत्मा मित्रममित्रम् च, दुष्प्रस्थित सुप्रस्थित ॥२॥

१२४. एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इंदियाणि य।
ते जिणित्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी ! ॥३॥
एक आत्माऽजित. शत्रु, कपाया इन्द्रियाणि च।
तान् जित्वा यथान्याय, विहराम्यह मुने ! ॥३॥

१२५. जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥४॥
य. सहस्र सहस्राणा, सङ्ग्रामे दुर्जये जयेत्।
एक जयेदात्मानम्, एप तस्य परमो जय. ॥४॥

१२६. अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥५॥
आत्मानमेव योधयस्व, किं ते युद्धेन बाह्यत.।
आत्मानमेव आत्मान, जित्वा सुखमेधते ॥५॥

१२७. अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥६॥
आत्मा चैव दमितव्य, आत्मा एव खलु दुर्दम.।
आत्मा दान्त सुखी भवति, अस्मिन्लोके परत्र च ॥६॥

१२८. वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य।
माऽहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि य ॥७॥
वर मयात्मा दान्त, सयमेन तपसा च।
माऽह परैर्दम्यमान, बन्धनैर्वधैश्च ॥७॥

१२९. एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं ॥८॥
एकतो विरतिं कुर्यात्, एकतश्च प्रवर्तनम्।
असंयमान्निवृत्तिं च, सयमे च प्रवर्तनम् ॥८॥

१२३. आत्मा ही सुख-दु.ख का कर्ता है और विकर्ता (भोक्ता) है। सत्प्रवृत्ति मे स्थित आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति मे स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है।

१२४. अविजित एक अपना आत्मा ही शत्रु है। अविजित कषाय और इन्द्रियाँ ही शत्रु है। हे मुने! मै उन्हे जीतकर यथान्याय (धर्मानुसार) विचरण करता हूँ।

१२५. जो दुर्जेय संग्राम मे हजारो-हजार योद्धाओ को जीतता है, उसकी अपेक्षा जो एक अपने को जीतता है उसकी विजय ही परमविजय है।

१२६. वाहरी युद्धो से क्या? स्वय अपने से ही युद्ध करो। अपने से अपने को जीतकर ही सच्चा सुख प्राप्त होता है।

१२७. स्वय पर ही विजय प्राप्त करना चाहिए। अपने पर विजय प्राप्त करना ही कठिन है। आत्म-विजेता ही इस लोक और परलोक में सुखी होता है।

१२८. उचित यही है कि मै स्वय ही सयम और तप के द्वारा अपने पर विजय प्राप्त करूँ। वन्धन और वध के द्वारा दूसरो से मै दमित (प्रताड़ित) किया जाऊँ, यह ठीक नही है।

१२९. एक ओर से निवृत्ति और दूसरी ओर से प्रवृत्ति करना चाहिए— असयम से निवृत्ति और सयम में प्रवृत्ति।

१३०. रागे दोसे य दो पावे, पावकम्मपवत्तणे ।
जे भिक्खू रुंभई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥९॥
रागो द्वेष च द्वौ पापौ, पापकर्मप्रवर्तकौ ।
यो भिक्षु रुणद्धि नित्य, स न आस्ते मण्डले ॥९॥

१३१. नाणेण य झाणेण य, तवोवलेण य बला निरुभंति ।
इंदियविसयकसाया, धरिया तुरगा व रज्जूहिं ॥१०॥
ज्ञानेन च ध्यानेन च, तपोवलेन च वलान्निरुध्यन्ते ।
इन्द्रियविषयकषाया, धृतास्तुरगा इव रज्जूभि ॥१०॥

१३२. उवसामं पुवणीता, गुणमहता जिणचरित्तसरिसं पि ।
पडिवातेंति कसाया, किं पुण सेसे सरागत्थे ॥११॥
उपशमम् अप्युपनीत, गुणमहान्त जिनचरित्रसदृशमपि ।
प्रतिपातयन्ति कषाया , किं पुन शेषान् सरागस्थान् ॥११॥

१३३. इह उवसंतकसाओ, लहइ अणंतं पुणो वि पडिवायं ।
न हु भे वीससियव्वं, थेवे वि कसायसेसम्मि ॥१२॥
इह उपशान्तकषायो, लभतेऽनन्त पुनरपि प्रतिपातम् ।
न हि युष्माभिर्विश्वसितव्य स्तोकेऽपि कषायशेषे ॥१२॥

१३४. अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च ।
न हु भे वीससियव्वं, थोवं पि हु तं बहु होइ ॥१३॥
ऋणस्तोक व्रणस्तोकम् , अग्निस्तोक कषायस्तोक च ।
न हि भवद्भिर्विश्वसितव्य, स्तोकमपि खलु तद् वहु भवति ॥१३॥

१३५. कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो ॥१४॥
क्रोध प्रीतिं प्रणाशयति, मानो विनयनाशन. ।
माया मित्राणि नाशयति, लोभ. सर्वविनाशन· ॥१४॥

१३६. उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायं चऽज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥१५॥
उपशमेन हन्यात् क्रोध , मान मार्दवेन जयेत् ।
मायां च आर्जवभावेन, लोभ सन्तोषतो जयेत् ॥१५॥

१३०. पापकर्म के प्रवर्तक राग और द्वेष ये दो पाप हैं। जो भिक्षु इनका सदा निरोध करता है वह मडल (संसार) मे नही रुकता—मुक्त हो जाता है।

१३१. ज्ञान, ध्यान और तपोवल से इन्द्रिय-विषयो और कषायो को वलपूर्वक रोकना चाहिए, जैसे कि लगाम के द्वारा घोडो को वल-पूर्वक रोका जाता है।

१३२ महागुणी मुनि के द्वारा उपशान्त किये हुए कषाय जिनेश्वर-देव के समान चरित्रवाले उस (उपशमक वीतराग) मुनि को भी गिरा देते है, तव सराग मुनियो का तो कहना ही क्या ?

१३३. जव कि कषायो को उपशान्त करनेवाला पुरुष भी अनन्त-प्रतिपात (विशुद्ध अध्यवसाय की अनन्तहीनता) को प्राप्त हो जाता है, तव अवशिष्ट थोड़ी-सी कषाय पर कैसे विश्वास किया जा सकता है ? उस पर विश्वास नही करना चाहिए।

१३४. ऋण को थोडा, घाव को छोटा, आग को तनिक और कषाय को अल्प मान, विश्वस्त होकर नही बैठ जाना चाहिए। क्योकि ये थोडे भी वढकर वहुत हो जाते है।

१३५. क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय को नष्ट करता है, माया मैत्री को नष्ट करती है और लोभ सव कुछ नष्ट करता है।

१३६. क्षमा से क्रोध का हनन करे, नम्रता से मान को जीतें, ऋजुता से माया को और सन्तोष से लोभ को जीते।

१३७. जहा कुम्मे सअंगाई, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥१६॥
यथा कूर्म स्वअङ्गानि, स्वके देहे समाहरेत्।
एव पापानि मेधावी, अध्यात्मना समाहरेत् ॥१६॥

१३८. से जाणमजाणं वा, कट्टु आहम्मिअं पय।
संवरे खिप्पमप्पाणं, बीयं तं न समायरे ॥१७॥
स जानन् अजानन् वा, कृत्वा आधार्मिक पदम्।
सवरेत् क्षिप्रमात्मानं, द्वितीय तत् न समाचरेत् ॥१७॥

१३९. धम्मारामे चरे भिक्खू, धिइमं धम्मसारही।
धम्मारामरए दंते, बम्भचेरसमाहिए ॥१८॥
धर्मारामे चरेद् भिक्षु, धृतिमान् धर्मसारथि।
धर्मारामरतो दान्त, ब्रह्मचर्यसमाहित ॥१८॥

११. अपरिग्रहसूत्र

१४०. संगनिमित्तं मारइ, भणइ अलीअं करेइ चोरिक्कं।
सेवइ मेहुण मुच्छं, अप्परिमाणं कुणइ जीवो ॥१॥
सगनिमित्त मारयति, भणत्यलीक करोति चोरिकाम्।
सेवते मैथुन मूर्च्छामपरिमाणा करोति जीव ॥१॥

१४१. चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चई ॥२॥
चित्तवन्तमचित्त वा, परिगृह्य कृशमपि।
अन्य वा अनुजानाति, एव दुखात् न मुच्यते ॥२॥

१४२. जे ममाइय मतिं जहाति, से जहाति ममाइयं।
से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स नत्थि ममाइयं ॥३॥
यो ममायितमतिं जहाति, स त्यजति ममायितम्।
स खलु दृष्टपथ मुनि, यस्य नास्ति ममायितम् ॥३॥

१३७. जैसे कछुआ अपने अंगो को अपने शरीर मे समेट लेता है, वैसे ही मेधावी (ज्ञानी) पुरुष पापो को अध्यात्म के द्वारा समेट लेता है।

१३८. जान या अजान मे कोई अधर्म कार्य हो जाय तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा लेना चाहिए, फिर दूसरी वार वह कार्य न किया जाय।

१३९ धैर्यवान्, धर्म के रथ को चलानेवाला, धर्म के आराम मे रत, दान्त और ब्रह्मचर्य मे चित्त का समाधान पानेवाला भिक्षु धर्म के आराम मे विचरण करे।

११. अपरिग्रहसूत्र

१४०. जीव परिग्रह के निमित्त हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन का सेवन करता है और अत्यधिक मूर्च्छा करता है। (इस प्रकार परिग्रह पाँचो पापो की जड है।)

१४१ सजीव या निर्जीव स्वल्प वस्तु का भी जो परिग्रह रखता है अथवा दूसरे को उसकी अनुज्ञा देता है, वह दु ख से मुक्त नही होता।

१४२. जो परिग्रह की बुद्धि का त्याग करता है, वही परिग्रह को त्याग सकता है। जिसके पास परिग्रह नही है, उसी मुनि ने पथ को देखा है।

१४३–१४४. मिच्छत्तवेदरागा, तहेव हासादिया य छद्दोसा ।
चत्तारि तह कसाया, चउदस अब्भंतरा गंथा ॥४॥
बाहिरसंगा खेत्तं, वत्थु धणधन्नकुप्पभांडाणि ।
दुपयचउप्पय जाणाणि, केव सयणासणे य तहा ॥५॥
मिथ्यात्ववेदरागा, तथैव हासादिका. च षड्दोषा ।
चत्वारस्तथा कषाया, चतुर्दश अभ्यन्तरा ग्रन्था. ॥४॥
बाह्यसगा क्षेत्र, वास्तुधनधान्यकुप्यभाण्डानि ।
द्विपदचतुष्पदानि यानानि, चैव शयनासनानि च तथा ॥५॥

१४५. सव्वगंथविमुक्को, सीईभूओ पसंतचित्तो अ ।
जं पावइ मुत्तिसुहं, न चक्कवट्टी वि तं लहइ ॥६॥
सर्वग्रन्थविमुक्त, शीतीभूत. प्रशान्तचित्तश्च ।
यत्प्राप्नोति मुक्तिसुख, न चक्रवर्त्यपि तल्लभते ॥६॥

१४६. गंथच्चाओ इंदिय-णिवारणे अंकुसो व हत्थिस्स ।
णयरस्स खाइया वि य, इंदियगुत्ती असंगत्तं ॥७॥
ग्रन्थत्याग इन्द्रिय-निवारणे अकुश इव हस्तिन. ।
नगरस्य खातिका इव च, इन्द्रियगुप्ति असंगत्वम् ॥७॥

१२. अहिंसासूत्र

१४७. एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ कंचण ।
अहिंसासमयं चेव, एतावंते वियाणिया ॥१॥
एतत् खलु ज्ञानिन' सारं, यत् न हिनस्ति कञ्चन ।
अहिंसा समता चैव, एतावती विजानीयात् ॥१॥

१४८. सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥२॥
सर्वे जीवाः अपि इच्छन्ति, जीवितुं न मर्तुम् ।
तस्मात्प्राणवधं घोरं, निर्ग्रन्था वर्जयन्ति तम् ॥२॥

४३-१४४. परिग्रह दो प्रकार का है—आभ्यन्तर और बाह्य।
आभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार का है
१ मिथ्यात्व, २. स्त्रीवेद, ३. पुरुषवेद, ४. नपुंसकवेद, ५ हास्य, ६. रति, ७. अरति, ८. शोक, ९. भय, १०. जुगुप्सा, ११. क्रोध, १२. मान, १३. माया, १४. लोभ।
बाह्य परिग्रह दस प्रकार का है :
१. खेत, २. मकान, ३. धन-धान्य, ४. वस्त्र, ५. भाण्ड, ६. दास-दासी, ७. पशु, ८. यान, ९. शय्या, १०. आसन

१४५. सम्पूर्ण परिग्रह से मुक्त, शीतीभूत, प्रसन्नचित्त श्रमण जैसा मुक्तिसुख पाता है वैसा सुख चक्रवर्ती को भी नहीं मिलता।

१४६. जैसे हाथी को वश में रखने के लिए अंकुश होता है और नगर की रक्षा के लिए खाई होती है, वैसे ही इन्द्रिय-निवारण के लिए परिग्रह का त्याग (कहा गया) है। परिग्रह-त्याग से इन्द्रियां वश में होती हैं।

१२. अहिंसासूत्र

१४७. ज्ञानी होने का सार यही है कि (वह) किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। इतना जानना ही पर्याप्त है कि अहिंसामूलक समता ही धर्म है अथवा यही अहिंसा का विज्ञान है।

१४८. सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं। इसलिए प्राणवध को भयानक जानकर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं।

१४९. जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा ।
ते जाणमजाणं वा, ण हणे णो वि घायए ॥३॥
यावन्तो लोके प्राणा-स्त्रसा अथवा स्थावरा ।
तान् जानन्नजानन्वा, न हन्यात् नोऽपि घातयेत् ॥३॥

१५०. जह ते न पिअं दुक्खं, जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं ।
सव्वायरमुवउत्तो, अत्तोवम्मेण कुणसु दयं ॥४॥
यथा ते न प्रिय दुःखं, ज्ञात्वैवमेव सर्वजीवानाम् ।
सर्वादरमुपयुक्त, आत्मौपम्येन कुरु दयाम् ॥४॥

१५१. जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ ।
ता सव्वजीवहिंसा, परिचत्ता अत्तकामेहिं ॥५॥
जीववध आत्मवधो, जीवदयाऽऽत्मनो दया भवति ।
तस्मात् सर्वजीवहिंसा, परित्यक्ताऽऽत्मकामै ॥५॥

१५२. तुमं सि नाम स चेव, जं हंतव्वं ति मन्नसि ।
तुमं सि नाम स चेव, जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि ॥६॥
त्वम् असि नाम स एव, य हन्तव्यमिति मन्यसे ।
त्वम् असि नाम स एव, यमाज्ञापयितव्यमिति मन्यसे ॥६॥

१५३. रागादीणमणुप्पाओ, अहिंसकत्तं त्ति देसियं समए ।
तेसिं चे उप्पत्ती, हिंसेत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठा ॥७॥
रागादीनामनुत्पाद., अहिंसकत्वमिति देशित समये ।
तेषा चेद् उत्पत्ति, 'हिंसा' इति जिनैर्निर्दिष्टा ॥७॥

१५४. अज्झवसिएण बंधो, सत्ते मारेज्ज मा थ मारेज्ज ।
एसो बंधसमासो, जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥८॥
अध्यवसितेन बन्ध, सत्यान् मारयेद् मा अथ मारयेत् ।
एष बन्धसमासो, जीवाना निश्चयनयस्य ॥८॥

१५५. हिंसादो अविरमणं, वहपरिणामो य होइ हिंसा हु ।
तम्हा पमत्तजोगे, पाणव्ववरोवओ णिच्चं ॥९॥
हिंसातोऽविरमण, वधपरिणाम च भवति हिंसा हि ।
तस्मात् प्रमत्तयोगे, प्राणव्यपरोपत. नित्यम् ॥९॥

१४९ लोक में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, निर्ग्रन्थ जान या अजान में उनका हनन न करे और न कराये ।

१५० जैसे तुम्हें दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही सब जीवों को दुःख प्रिय नहीं है—ऐसा जानकर, पूर्ण आदर और सावधानीपूर्वक, आत्मौपम्य की दृष्टि से सब पर दया करो ।

१५१. जीव का वध अपना ही वध है । जीव की दया अपनी ही दया है । अतः आत्महितैषी (आत्मकाम) पुरुषों ने सभी तरह की जीव-हिंसा का परित्याग किया है ।

१५२ जिसे तू हननयोग्य मानता है, वह तू ही है । जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है ।

१५३ जिनेश्वरदेव ने कहा है—राग आदि की अनुत्पत्ति अहिंसा है और उनकी उत्पत्ति हिंसा है ।

१५४. हिंसा करने के अध्यवसाय से ही कर्म का बंध होता है, फिर कोई जीव मरे या न मरे । निश्चयनय के अनुसार संक्षेप में जीवों के कर्म-बंध का यही स्वरूप है ।

१५५. हिंसा से विरत न होना, हिंसा का परिणाम रखना हिंसा ही है । इसलिए जहाँ प्रमाद है वहाँ नित्य हिंसा है

१५६. णाणी कम्मस्स खयत्थ-मुट्ठिदो णोट्ठिदो य हिंसाए
अददि असढं अहिंसत्थं, अप्पमत्तो अवधगो सो ॥१०॥
ज्ञानी कर्मण. क्षयार्थ-मुत्थितो नोत्थितः च हिंसायै ।
यतति अशठम् अहिंसार्थम् अप्रमत्त. अवधक॰ स॰ ॥१०॥

१५७. अत्ता चेव अहिंसा, अत्ता हिंसति णिच्छओ समए ।
जो होदि अप्पमत्तो, अहिंसगो हिंसगो इदरो ॥११॥
आत्मैवाहिंसाऽऽत्मा, हिंसेति निश्चयः समये ।
यो भवति अप्रमत्तोऽहिसक , हिंसकः इतर ॥११॥

१५८. तुंगं न मंदराओ, आगासाओ विसालयं नत्थि ।
जह तह जयंमि जाणसु, धम्ममहिंसासमं नत्थि ॥१२॥
तुङ्गं न मन्दरात्, *आकाशाद्विशालकं नास्ति ।*
यथा तथा जगति जानीहि, धर्मोऽहिंसासमो नास्ति ॥१२॥

१५९. अभयं पत्थिवा ! तुब्भं, अभयदाया भवाहि य ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ॥१३॥
अभय पार्थिव ! तुभ्यम् अभयदाता भव च ।
अनित्ये जीवलोके, किं हिंसाया प्रसज्जसि ॥१३॥

१३. अप्रमादसूत्र

१६०. इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्चं इमं अकिच्चं ।
तं एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति कहं पमाए ? ॥१॥
इद च मेऽस्ति इदं च नास्ति, इदं च मे कृत्यमिदमकृत्यम् ।
तमेवमेव लालप्यमान, हरा हरन्तीति कथं प्रमादः ? ॥१॥

१६१. सीतंति सुवंताणं, अत्था पुरिसाण लोगसारत्था ।
तम्हा जागरमाणा, विधुणध पोराणयं कम्मं ॥२॥
सीदन्ति स्वपताम्, अर्थाः पुरुषाणां लोकसारार्था. ।
तस्माज्जागरमाणा, विधूनयत पुराणक कर्म ॥२॥

१५६ ज्ञानी कर्म-क्षय के लिए उद्यत हुआ है, हिंसा के लिए नही। वह निश्छलभाव से अहिंसा के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह अप्रमत्त मुनि अहिंसक होता है।

१५७. आत्मा ही अहिंसा है और आत्मा ही हिंसा है—यह सिद्धान्त का निश्चय है। जो अप्रमत्त है वह अहिंसक है और जो प्रमत्त है वह हिंसक है।

१५८ जैसे जगत् में मेरु पर्वत से ऊँचा और आकाश से विशाल और कुछ नही है, वैसे ही अहिंसा के समान कोई धर्म नही है।

१५९. मुनि ने कहा : 'पार्थिव ! तुझे अभय है और तू भी अभयदाता बन। इस अनित्य जीव-लोक मे तू क्यों हिंसा मे आसक्त हो रहा है ?'।

१३. अप्रमादसूत्र

१६०. यह मेरे पास है और यह नही है, यह मुझे करना है और यह नहीं करना है—इस प्रकार वृथा बकवास करते हुए पुरुष को उठाने वाला (काल) उठा लेता है। इस स्थिति में प्रमाद कैसे किया जाय ?

१६१ इस जगत् मे ज्ञान आदि सारभूत अर्थ है। जो पुरुष सोते है उनके वे अर्थ नष्ट हो जाते हैं। अतः सतत जागते रहकर पूर्वार्जित कर्मों को प्रकम्पित करो।

१६२. जागरिया धम्मीणं, अहम्मीणं च सुत्तया सेया ।
वच्छाहिवभगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥३॥
जागरिका धर्मिणाम्, अधर्मिणा च सुप्तता श्रेयसी ।
वत्साधिपभगिन्या , कथितवान् जिन जयन्त्या. ॥३॥

१६३. सुत्तेसु यावी पडिवुद्धजीवी, न वीससे पण्डिए आसुपण्णे ।
घोरा मुहुत्ता अवलं सरीरं, भारंड-पक्खी व चरेऽप्पमत्तो ॥४॥
सुप्तेषु चापि प्रतिबुद्धजीवी, न विश्वसेत् पण्डित आशुप्रज्ञ ।
घोरा मुहूर्त्ता अवल शरीरम्, भारण्डपक्षीव चरेद् अप्रमत्त ॥४॥

१६४. पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं ।
तब्भावादेसओ वावि, वालं पंडियमेव वा ॥५॥
प्रमाद कर्म आहु-रप्रमाद तथाऽपरम् ।
तद्भावादेशतो वापि, वाल पण्डितमेव वा ॥५॥

१६५. न कम्मुणा कम्म खवेंति वाला, अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा ।
मेधाविणो लोभमया वतीता, संतोसिणो नो पकरेंति पावं ॥६॥
न कर्मणा कर्म क्षपयन्ति वाला, अकर्मणा कर्म क्षपयन्ति धीरा ।
मेधाविनो लोभमदाद् व्यतीता , सन्तोपिणो नो प्रकुर्वन्ति पापम् ॥

१६६. सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं ॥७॥
सर्वत प्रमत्तस्य भय, सर्वतोऽप्रमत्तस्य नास्ति भयम् ॥७॥

१६७. नाऽऽलस्सेण समं सुक्खं, न विज्जा सह निद्दया ।
न वेरग्गं ममत्तेणं, नारंभेण दयालुया ॥८॥
नाऽऽलस्येन सम सौख्य, न विद्या सह निद्रया ।
न वैराग्य ममत्वेन, नारम्भेण दयालुता ॥८॥

१६८. जागरह नरा ! णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते वुद्धी ।
जो सुवति ण सो धन्नो, जो जग्गति सो सया धन्नो ॥९॥
जागृत नरा ! नित्य, जागरमाणस्य वर्द्धते वुद्धि ।
य स्वपिति न सो धन्य', य जागर्त्ति स सदा धन्य ॥९॥

१६२ 'धार्मिकों का जागना श्रेयस्कर है और अधार्मिकों का सोना श्रेयस्कर है'—ऐसा भगवान् महावीर ने वत्सदेश के राजा शतानीक की बहन जयन्ती से कहा था ।

१६३. आशुप्रज्ञ पडित सोये हुए व्यक्तियों के बीच भी जागृत रहे । प्रमाद में विश्वास न करे । मुहूर्त बडे घोर (निर्दयी) होते हैं । शरीर दुर्बल है, इसलिए वह भारण्ड पक्षी की भाँति अप्रमत्त होकर विचरण करे ।

१६४. प्रमाद को कर्म (आस्रव) और अप्रमाद को अकर्म (संवर) कहा है । प्रमाद के होने से मनुष्य बाल (अज्ञानी) होता है । प्रमाद के न होने से मनुष्य पडित (ज्ञानी) होता है ।

१६५ (अज्ञानी साधक कर्म-प्रवृत्ति के द्वारा कर्म का क्षय होना मानते हैं किन्तु) वे कर्म के द्वारा कर्म का क्षय नहीं कर सकते । धीर पुरुष अकर्म (संवर या निवृत्ति) के द्वारा कर्म का क्षय करते हैं । मेधावी पुरुष लोभ और मद से अतीत तथा सन्तोषी होकर पाप नहीं करते ।

१६६. प्रमत्त को सब ओर से भय होता है । अप्रमत्त को कोई भय नहीं होता ।

१६७ आलसी सुखी नहीं हो सकता, निद्रालु विद्याभ्यासी नहीं हो सकता, ममत्व रखनेवाला वैराग्यवान नहीं हो सकता, और हिंसक दयालु नहीं हो सकता ।

१६८. मनुष्यो ! सतत जागृत रहो । जो जागता है उसकी बुद्धि बढती है । जो सोता है वह धन्य नहीं है, धन्य वह है, जो सदा जागता है ।

१६९. आदाणे णिक्खेवे, वोसिरणे ठाणगमणसयणेसु।
सव्वत्थ अप्पमत्तो, दयावरो होदु हु अहिंसओ ॥१०॥
आदाने निक्षेपे, व्युत्सर्जने स्थानगमनशयनेषु।
सर्वत्राऽप्रमत्तो, दयापरो भवति खल्वहिंसकः ॥१०॥

१४. शिक्षासूत्र

१७०. विवत्ती अविणीअस्स, संपत्ती विणीअस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥१॥
विपत्तिरविनीतस्य, सपत्तिर्विनीतस्य च।
यस्यैतद् द्विधा ज्ञात, शिक्षा स अधिगच्छति ॥१॥

१७१. अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणाऽलस्सएण य ॥२॥
अथ पञ्चभि स्थानै, यै. शिक्षा न लभ्यते।
स्तम्भात् क्रोधात् प्रमादेन, रोगेणालस्यकेन च ॥२॥

१७२-१७३. अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चई।
अहस्सिरे सया दंते, न य मम्ममुदाहरे ॥३॥
नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥४॥
अथाष्टभि स्थानै, शिक्षाशील इत्युच्यते।
अहसनशील सदा दान्त, न च मर्म उदाहरेत् ॥३॥
नाशीलो न विशील, न स्यादतिलोलुप।
अक्रोधन सत्यरत, शिक्षाशील इत्युच्यते ॥४॥

१७४. नाणमेगग्गचित्तो अ, ठिओ अ ठावयई परं।
सुआणि अ अहिज्जित्ता, रओ सुअसमाहिए ॥५॥
ज्ञानमेकाग्रचित्तश्च, स्थित च स्थापयति परम्।
श्रुतानि च अधीत्य, रत श्रुतसमाधौ ॥५॥

१६९ वस्तुओ को उठाने-धरने मे, मल-मूत्र का त्याग करने मे, बैठने तथा चलने-फिरने मे, और शयन करने में जो दयालु पुरुष सदा अप्रमादी रहता है, वह निश्चय ही अहिंसक है ।

१४. शिक्षासूत्र

१७०. अविनयी के ज्ञान आदि गुण नष्ट हो जाते है, यह उसकी विपत्ति है और विनयी को ज्ञान आदि गुणो की सम्प्राप्ति होती है, (यह उसकी सम्पत्ति है । इन दोनो बातो को जाननेवाला ही ग्रहण और आसेवनरूप) सच्ची शिक्षा प्राप्त करता है ।

१७१. इन पाँच स्थानो या कारणो से शिक्षा प्राप्त नही होती : १. अभिमान, २. क्रोध, ३. प्रमाद, ४. रोग और ५. आलस्य ।

१७२-१७३. इन आठ स्थितियो या कारणो से मनुष्य शिक्षाशील कहा जाता है : १ हँसी-मजाक नही करना, २. सदा इन्द्रिय और मन का दमन करना, ३. किसीका रहस्योद्घाटन न करना, ४. अशील (सर्वथा आचारविहीन) न होना, ५. विशील (दोषो से कलकित) न होना, ६. अति रसलोलुप न होना, ७ अक्रोधी रहना तथा ८ सत्यरत होना ।

१७४. अध्ययन के द्वारा व्यक्ति को ज्ञान और चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है । वह स्वय धर्म मे स्थित होता है और दूसरो को भी स्थिर करता है तथा अनेक प्रकार के श्रुत का अध्ययन कर वह श्रुतसमाधि म रत हो जाता है ।

१७५. वसे गुरुकुले निच्चं, जोगवं उवहाणवं ।
पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धुमरिहई ॥६॥
वसेद् गुरुकुले नित्य, योगवानुपधानवान् ।
प्रियकर प्रियवादी, स शिक्षा लब्धुमर्हति ॥६॥

१७६. जह दीवा दीवसयं, पइप्पए सो य दिप्पए दीवो ।
दीवसमा आयरिया, दिप्पंति परं च दीवेंति ॥७॥
यथा दीपात् दीपशत, प्रदीप्यते स च दीप्यते दीप. ।
दीपसमा आचार्या, दीप्यन्ते पर च दीपयन्ति ॥७॥

१५. आत्मसूत्र

१७७. उत्तमगुणाण धामं, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं ।
तच्चाण परं तच्चं, जीवं जाणेह णिच्छयदो ॥१॥
उत्तमगुणाना धाम, सर्वद्रव्याणा उत्तम द्रव्यम् ।
तत्त्वाना पर तत्त्व, जीव जानीत निश्चयत ॥१॥

१७८. जीवा हवंति तिविहा, वहिरप्पा तह य अंतरप्पा य ।
परमप्पा वि य दुविहा, अरहंता तह य सिद्धा य ॥२॥
जीवा भवन्ति त्रिविधा, वहिरात्मा तथा च अन्तरात्मा च ।
परमात्मान अपि च द्विविधा, अर्हन्त तथा च सिद्धा च ॥२॥

१७९. अक्खाणि वहिरप्पा, अंतरप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्मकलंक-विमुक्को, परमप्पा भण्णए देवो ॥३॥
अक्षाणि वहिरात्मा, अन्तरात्मा खलु आत्मसकल्प ।
कर्मकलङ्कविमुक्त, परमात्मा भण्यते देव ॥३॥

१८०. ससरीरा अरहंता, केवलणाणेण मुणिय-सयलत्था ।
णाणसरीरा सिद्धा, सव्वुत्तम-सुक्ख-संपत्ता ॥४॥
सशरीरा अर्हन्त, केवलज्ञानेन ज्ञातसकलार्था ।
ज्ञानशरीरा सिद्धा, सर्वोत्तमसौख्यसप्राप्ता ॥४॥

१७५. जो सदा गुरुकुल में वास करता है, जो समाधियुक्त होता है, जो उपधान (श्रुत-अध्ययन के समय) तप करता है, जो प्रिय करता है, जो प्रिय बोलता है, वह शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

१७६. जैसे एक दीप से सैकड़ों दीप जल उठते हैं और वह स्वयं भी दीप्त रहता है, वैसे ही आचार्य दीपक के समान होते हैं। वे स्वयं प्रकाशवान् रहते हैं और दूसरों को भी प्रकाशित करते हैं।

१५. आत्मसूत्र

१७७ तुम निश्चयपूर्वक यह जानो कि जीव उत्तम गुणों का आश्रय, सब द्रव्यों में उत्तम द्रव्य और सब तत्त्वों में परम तत्त्व है।

१७८. जीव (आत्मा) तीन प्रकार का है : बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। परमात्मा के दो प्रकार हैं : अर्हत् और सिद्ध।

१७९. इन्द्रिय-समूह को आत्मा के रूप में स्वीकार करनेवाला बहिरात्मा है। आत्म-संकल्प—देह से भिन्न आत्मा को स्वीकार करनेवाला अन्तरात्मा है। कर्म-कलंक से विमुक्त आत्मा परमात्मा है।

१८० केवलज्ञान से समस्त पदार्थों को जाननेवाले स-शरीरी जीव अर्हत् हैं तथा सर्वोत्तम सुख (मोक्ष) को संप्राप्त ज्ञान-शरीरी जीव सिद्ध कहलाते हैं।

१८१. आरुहवि अंतरप्पा, वहिरप्पो छंडिऊण तिविहेण ।
झाइज्जइ परमप्पा, उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥५॥
आरुह्य अन्तरात्मान, वहिरात्मान त्यक्त्वा त्रिविधेन ।
ध्यायते परमात्मा, उपदिष्ट जिनवरेन्द्रै ॥५॥

१८२. चउगइभवसंभमणं, जाइजरामरण-रोयसोका य ।
कुलजोणिजीवमग्गण-ठाणा जीवस्स णो संति ॥६॥
चतुर्गतिभवसभ्रमण, जातिजरामरण-रोगशोकाश्च ।
कुल योनिजीवमार्गणा-स्थानानि जीवस्य नो सन्ति ॥६॥

१८३. वण्णरसगंधफासा, थीपुंसणवुंसयादि-पज्जाया ।
संठाणा संहणणा, सव्वे जीवस्स णो संति ॥७॥
वर्णरसगन्धस्पर्शा, स्त्रीपुनपुसकादि-पर्याया ।
सस्थानानि सहननानि, सर्वे जीवस्य नो सन्ति ॥७॥

१८४. एदे सव्वे भावा, ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु ।
सव्वे सिद्धसहावा, सुद्धणया संसिदी जीवा ॥८॥
एते सर्वे भावा व्यवहारनय प्रतीत्य भणिता. खलु ।
सर्वे सिद्धस्वभावा, शुद्धनयात् ससृतौ जीवा. ॥८॥

१८५. अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥९॥
अरसमरूपमगन्धम् अव्यक्त चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिगग्रहण, जीवमनिर्दिष्टसस्थानम् ॥९॥

१८६. णिद्दंडो णिद्दंदो, णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो ।
णीरागो णिद्दोसो, णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ॥१०॥
निर्दण्ड निर्द्वन्द्व, निर्मम निष्कल. निरालम्ब ।
नीराग निर्द्वेष, निर्मूढ निर्भय आत्मा ॥१०॥

१८७. णिग्गंथो णीरागो, णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को ।
णिक्कामो णिक्कोहो, णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥११॥
निर्ग्रन्थो नीरागो, नि शल्य सकलदोपनिर्मुक्त. ।
निष्कामो निष्क्रोधो, निर्मानो निर्मद आत्मा ॥११॥

१८१. जिनेश्वरदेव का यह कथन है कि तुम मन, वचन और काया से बहिरात्मा को छोड़कर, अन्तरात्मा मे आरोहण कर परमात्मा का ध्यान करो।

१८२ शुद्ध आत्मा मे चतुर्गतिरूप भव-भ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक तथा कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान नही होते।

१८३. शुद्ध आत्मा मे वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श तथा स्त्री, पुरु , नपुसक आदि पर्याये, तथा सस्थान और सहनन नही होते।

१८४. ये सब भाव व्यवहारनय की अपेक्षा से कहे गये है। शुद्धनय (निश्चयनय) की अपेक्षा से ससारी जीव भी सिद्धस्वरूप है।

१८५. शुद्ध आत्मा वास्तव मे अरस, अरूप, अगध, अव्यक्त, चैतन्य-गुणवाला, अशब्द, अलिङ्गग्राह्य (अनुमान का अविषय) और सस्थानरहित है।

१८६. आत्मा, मन, वचन और कायरूप त्रिदड से रहित, निर्द्वन्द्व—अकेला, निर्मम—ममत्वरहित, निष्कल—शरीररहित, निरालम्ब—परद्रव्यालम्बन से रहित, वीतराग, निर्दोष, मोह-रहित तथा निर्भय है।

१८७ वह (आत्मा) निर्ग्रन्थ (ग्रन्थिरहित) है, नीराग है, नि शल्य (निदान, माया और मिथ्यादर्शनशल्य से रहित) है, सर्व-दोषो से निर्मुक्त है, निष्काम (कामनारहित) है और नि क्रोध, निर्मान तथा निर्मद है।

१८८. णवि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एव भणंति सुद्धं, णाओ जो सो उ सो चेव ॥१२॥
नापि भवत्यप्रमत्तो, न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भाव ।
एव भणन्ति शुद्ध, ज्ञातो य स तु स चैव ॥१२॥

१८९. णाहं देहो ण मणो, ण चेव वाणी ण कारणं तेंसि ।
कत्ता ण ण कारयिदा, अणुमता णेव कत्तीणं ॥१३॥
नाहं देहो न मनो, न चैव वाणी न कारण तेषाम् ।
कर्त्ता न न कारयिता, अनुमन्ता नैव कर्तॄणाम् ॥१३॥

१९०. को णाम भणिज्ज बुहो, णाउं सव्वे पराइए भावे ।
मज्झमिण ति य वयणं, जाणंतो अप्पय सुद्ध ॥१४॥
को नाम भणेद् बुध , ज्ञात्वा सर्वान् परकीयान् भावान् ।
ममेदमिति च वचन, जानन्नात्मक शुद्धम् ॥१४॥

१९१. अहमिक्को खलु सुद्धो, णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।
तम्हि ठिओ तच्चित्तो, सव्वे एए खयं णेमि ॥१५॥
अहमेक खलु शुद्ध , निर्ममत ज्ञानदर्शनसमग्र ।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्त , सर्वानेतान् क्षय नयामि ॥१५॥

●

१८८. आत्मा ज्ञायक है। जो ज्ञायक होता है, वह न अप्रमत्त होता है और न प्रमत्त। जो अप्रमत्त और प्रमत्त नहीं होता वह शुद्ध होता है। आत्मा ज्ञायकरूप मे ही ज्ञात है और वह शुद्ध अर्थ मे ज्ञायक ही है। उसमें ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है।*

१८९. मैं (आत्मा) न शरीर हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ और न उनका कारण हूँ। मैं न कर्ता हूँ, न करानेवाला हूँ और न कर्ता का अनुमोदक ही हूँ।

१९० आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जाननेवाला तथा परकीय (आत्म-व्यतिरिक्त) भावों को जाननेवाला ऐसा कौन ज्ञानी होगा, जो यह कहेगा कि 'यह मेरा है।'

१९१. मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममतारहित हूँ तथा ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हूँ। अपने इस शुद्ध स्वभाव मे स्थित और तन्मय होकर मैं इन सब (परकीय भावो) का क्षय करता हूँ।

---

* गुणस्थानों की दृष्टि से जीव को छठे गुणस्थान तक प्रमत्त और सातवें से अप्रमत्त कहा जाता है। ये दोनों दशाएँ शुद्ध जीव की नहीं हैं।

समणसुत्तं

द्वितीय खण्ड

मोक्षमार्ग

१६. मोक्षमार्गसूत्र

१९२. मग्गो मग्गफलं ति य, दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफलं होइ णिव्वाणं ॥१॥
मार्ग मार्गफलम् इति च द्विविध जिनशासने समाख्यातम् ।
मार्ग खलु सम्यक्त्व मार्गफल भवति निर्वाणम् ॥१॥

१९३. दंसणणाणचरित्ताणि, मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि ।
साधूहि इदं भणिदं, तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ॥२॥
दर्शनज्ञानचारित्राणि, मोक्षमार्ग इति सेवितव्यानि ।
साधुभिरिद भणित, तैस्तु वन्धो वा मोक्षो वा ॥२॥

१९४. अण्णाणादो णाणी, जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो ।
हवदि त्ति दुक्खमोक्खं, परसमयरदो हवदि जीवो ॥३॥
अज्ञानात् ज्ञानी, यदि मन्यते शुद्धसम्प्रयोगात् ।
भवतीति दु खमोक्ष, परसमयरतो भवति जीव ॥३॥

१९५ वदसमिदीगुत्तीओ, सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं ।
कुव्वंतो वि अभव्वो, अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥४॥
व्रतसमितिगुप्ती शीलतप जिनवरै प्रज्ञप्तम् ।
कुर्वन् अपि अभव्य अज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु ॥४॥

१९६. णिच्छयववहारसरूवं, जो रयणत्तयं ण जाणइ सो ।
जे कीरइ तं मिच्छा–रूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठ ॥५॥
निश्चयव्यवहारस्वरूप, यो रत्नत्रय न जानाति स ।
यत् करोति तन्मिथ्या-रूप सर्व जिनोद्दिष्टम् ॥५॥

१९७. सद्दहदि य पत्तेदि य, रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं, ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥६॥
श्रद्दधाति च प्रत्येति च, रोचयति च तथा पुनश्च स्पृशति ।
धर्म भोगनिमित्त, न तु स कर्मक्षयनिमित्तम् ॥६॥

१६. मोक्षमार्गसूत्र

१९२ जिनशासन मे 'मार्ग' तथा 'मार्गफल' इन दो प्रकारो से कथन किया गया है। 'मार्ग' 'मोक्ष' का उपाय है। उसका 'फल' 'निर्वाण' या 'मोक्ष' है।

१९३ (सम्यक्) दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तप को जिनेन्द्रदेव ने मोक्ष का मार्ग कहा है। वह निश्चय और व्यवहार दो प्रकार का है। शुभ और अशुभभाव मोक्ष के मार्ग नही है। इन भावो से तो नियमत कर्मबन्ध होता है।

१९४ अज्ञानवश यदि ज्ञानी भी ऐसा मानने लगे कि शुद्ध सम्प्रयोग अर्थात् भक्ति आदि शुभभाव से दु ख-मुक्ति होती है, तो वह भी राग का अश होने से पर-समयरत होता है।

१९५. जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप का आचरण करते हुए भी अभव्य जीव अज्ञानी और मिथ्या-दृष्टि ही है।

१९६. जो निश्चय और व्यवहारस्वरूप रत्नत्रय (दर्शन, ज्ञान, चारित्र) को नही जानता, उसका सब-कुछ करना मिथ्यारूप है, यह जिनदेव का उपदेश है।

१९७. अभव्य जीव यद्यपि धर्म मे श्रद्धा रखता है, उसकी प्रतीति करता है, उसमे रुचि रखता है, उसका पालन भी करता है, किन्तु यह सब वह धर्म को भोग का निमित्त समझकर करता है, कर्मक्षय का कारण समझकर नही करता।

१९८. सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पाव त्ति भणियमन्नेसु ।
परिणामो णन्नगदो, दुक्खक्खयकारणं समये ॥७॥
शुभपरिणाम पुण्य अशुभः पापमिति भणितमन्येपु ।
परिणामो नान्यगतो, दु खक्षयकारण समये ॥७॥

१९९. पुण्णं पि जो समिच्छदि, संसारो तेण ईहिदो होदि ।
पुण्णं सुगईहेदुं, पुण्णखएणेव णिव्वाणं ॥८॥
पुण्यमपि य समिच्छति, ससार तेन ईहित भवति ।
पुण्य सुगतिहेतु., पुण्यक्षयेण एव निर्वाणम् ॥८॥

२००. कम्ममसुहं कुसीलं, सुहकम्मं चावि जाण व सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं, जं संसारं पवेसेदि ॥९॥
कर्म अशुभ कुशील, शुभकर्म चापि जानीहि वा सुशीलम् ।
कथ तद् भवति सुशील, यत् ससारं प्रवेशयति ॥९॥

२०१. सोवण्णियं पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१०॥
सौवर्णिकमपि निगल, वध्नाति कालायसमपि यथा पुरुषम् ।
वध्नात्येव जीव, शुभमशुभ वा कृत कर्म ॥१०॥

२०२. तम्हा दु कुसीलेहि य, रायं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साहीणो हि विणासो, कुसीलसंसग्गरायेण ॥११॥
तस्मात्तु कुशीलैश्च, रागं मा कुरुत मा वा संसर्गम् ।
स्वाधीनो हि विनाश. कुशीलसंसर्गरागेण ॥११॥

२०३. वरं वयतवेहि सग्गो, मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं ।
छायातवट्ठियाणं, पडिवालंताण गुरुभेयं ॥१२॥
वर व्रततपोभि स्वर्ग , मा दु ख भवतु निरये इतरै ।
छायाऽऽतपस्थितानां, प्रतिपालयतां गुरुभेद. ॥१२॥

२०४. खयरामरमणुय-करंजलि-मालाहिं च संथुया विउला ।
चक्कहररायलच्छी, लब्भई वोही ण भव्वणुओ ॥१३॥
खचरामरमनुज-कराञ्जलि-मालाभिश्च सस्तुता विपुला ।
चक्रधरराजलक्ष्मी:, लभ्यते वोधिः न भव्यनुता ॥१३॥

१९८ (वह नहीं जानता कि–) परद्रव्य मे प्रवृत्त शुभ-परिणाम पुण्य है और अशुभ-परिणाम पाप है। (धर्म) अनन्यगत अर्थात् स्व-द्रव्य मे प्रवृत्त परिणाम है जो यथासमय दु खो के क्षय का कारण होता है।

१९९. जो पुण्य की इच्छा करता है, वह ससार की ही इच्छा करता है। पुण्य सुगति का हेतु (अवश्य) है, किन्तु निर्वाण तो पुण्य के क्षय से ही होता है।

२००. अशुभ-कर्म को कुशील और शुभ-कर्म को सुशील जानो। किन्तु उसे सुशील कैसे कहा जा सकता है जो ससार मे प्रविष्ट कराता है ?

२०१. बेड़ी सोने की हो चाहे लोहे की, पुरुष को दोनो ही बेड़ियाँ बाधती है। इसी प्रकार जीव को उसके शुभ-अशुभ कर्म बांधते है।

२०२. अतः (परमार्थतः) दोनो ही प्रकार के कर्मों को कुशील जानकर उनके साथ न राग करना चाहिए और न उनका ससर्ग। क्योंकि कुशील (कर्मों) के प्रति राग और ससर्ग करने से स्वाधीनता नष्ट होती है।

२०३. (तथापि–) व्रत व तपादि के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति उत्तम है। उनके न करने पर नरकादि के दु.ख उठाना ठीक नही है। क्योंकि कष्ट सहते हुए धूप मे खड़े रहने की अपेक्षा छाया मे खड़े रहना कही अच्छा है। (इसी न्याय से लोक मे पुण्य की सर्वथा उपेक्षा उचित नही।)

२०४. (इसमे सन्देह नही कि) शुभभाव से विद्याधरो, देवो तथा मनुष्यो की कराजलि-बद्ध स्तुतियो से स्तुत्य चक्रवर्ती सम्राट् की विपुल राज्यलक्ष्मी (तक) उपलब्ध हो सकती है, किन्तु सम्यक्-सम्बोधि प्राप्त नही होती।

२०५. तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया ।
उवेन्ति माणुसं जोणिं, सेदुसंगेऽभिजायए ॥१४॥
तत्र स्थित्वा यथास्थानं, यक्षा आयुक्षये च्युता ।
उपयान्ति मानुषी योनिम्, स दशाङ्गोऽभिजायते ॥१४॥

२०६-२०७. भोच्चा माणुस्सए भोए, अप्पडिरूवे अहाउयं ।
पुव्वं विसुद्धसद्धम्मे, केवलं बोहि बुज्झिया ॥१५॥
चउरंगं* दुल्लहं मत्ता, संजमं पडिवज्जिया ।
तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए ॥१६॥
भुक्त्वा मानुष्कान् भोगान्, अप्रतिरूपान् यथायुष्कम् ।
पूर्वं विशुद्धसद्धर्मा, केवला बोधि बुद्ध्वा ॥१५॥
चतुरङ्ग दुर्लभ ज्ञात्वा, सयम प्रतिपद्य ।
तपसा धूतकर्मांश, सिद्धो भवति शाश्वत. ॥१६॥

१७. रत्नत्रयसूत्र

(अ) व्यवहार-रत्नत्रय

२०८. धम्मादीसद्दहणं, सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं ।
चिट्ठा तवंसि चरिया, ववहारो मोक्खमग्गो त्ति ॥१॥
धर्मादिश्रद्धान, सम्यक्त्व ज्ञानमङ्गपूर्वगतम् ।
चेष्टा तपसि चर्या, व्यवहारो मोक्षमार्ग इति ॥१॥

२०९. नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥२॥
ज्ञानेन जानाति भावान्, दर्शनेन च श्रद्धत्ते ।
चारित्रेण निगृह्णाति, तपसा परिशुध्यति ॥२॥

२१०. नाणं चरित्तहीणं, लिंगग्गहणं च दंसणविहीणं ।
संजमहीणं च तवं, जो चरइ निरत्थयं तस्स ॥३॥
ज्ञान चरित्रहीन, लिङ्गग्रहण च दर्शनविहीनम् ।
सयमविहीन च तप, य. चरति निरर्थक तस्य ॥३॥

---

* मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा, वीर्य ।

२०५. (पुण्य के प्रताप से) देवलोक में यथास्थान रहकर आयुक्षय होने पर देवगण वहाँ से लौटकर मनुष्य-योनि में जन्म लेते हैं। वहाँ वे दशांग भोग-सामग्री से युक्त होते हैं।

२०६-२०७ जीवनपर्यन्त अनुपम मानवीय भोगों को भोगकर पूर्वजन्म में विशुद्ध समीचीन धर्माराधन के कारण निर्मल बोधि का अनुभव करते हैं और चार अंगों (मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा तथा वीर्य) को दुर्लभ जानकर वे संयम-धर्म स्वीकार करते हैं और फिर तपश्चर्या से कर्मों का नाश करके शाश्वत सिद्धपद को प्राप्त होते हैं।

१७. रत्नत्रयसूत्र

(अ) व्यवहार-रत्नत्रय

२०८ धर्म आदि (छह द्रव्य तथा तत्त्वार्थ आदि) का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अंगों और पूर्वों का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। तप में प्रयत्नशीलता सम्यक्चारित्र है। यह व्यवहार मोक्ष-मार्ग है।

२०९ (मनुष्य) ज्ञान से जीवादि पदार्थों को जानता है, दर्शन से उनका श्रद्धान करता है, चारित्र से (कर्मास्रव का) निरोध करता है और तप से विशुद्ध होता है।

२१०. (तीनों एक-दूसरे के पूरक हैं इसीलिए कहा है कि) चारित्र के विना ज्ञान, सम्यग्दर्शन के विना मुनिलिंग का ग्रहण और संयमविहीन तप का आचरण करना निरर्थक है।

२११. नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥४॥
नादर्शनिनो ज्ञान, ज्ञानेन विना न भवन्ति चरणगुणा ।
अगुणिनो नास्ति मोक्ष , नास्त्यमोक्षस्य निर्वाणम् ॥४॥

२१२. हयं नाणं कियाहीणं, हया अण्णाणओ किया ।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ ॥५॥
हत ज्ञान क्रियाहीन, हताऽज्ञानत क्रिया ।
पश्यन् पङ्गुल· दग्धो, धावमानश्च अन्धक ॥५॥

२१३. संजोअसिद्धीइ फलं वयंति , न हु एगचक्केण रहो पयाइ ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥६॥
सयोगसिद्धौ फल वदन्ति, न खल्वेकचक्रेण रथ प्रयाति ।
अन्धश्च पङ्गुश्च वने समेत्य, तौ सप्रयुक्तौ नगर प्रविष्टौ ॥६॥

(आ) निश्चय-रत्नत्रय

२१४. सम्मद्दंसणणाणं, एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो, भणिदो जो सो समयसारो ॥७॥
सम्यग्दर्शनज्ञानमेप लभते इति केवल व्यपदेशम् ।
सर्वनयपक्षरहितो, भणितो य स समयसार ॥७॥

२१५. दंसणणाणचरित्ताणि, सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि, अप्पाणं जाण णिच्छयदो ॥८॥
दर्शनज्ञानचारित्राणि, सेवितव्यानि साधुना नित्यम् ।
तानि पुनर्जानीहि, त्रीण्यप्यात्मान जानीहि निश्चयत ॥८॥

२१६. णिच्छयणयेण भणिदो, तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा ।
ण कुणदि किंचि वि अन्नं, ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति ॥९॥
निश्चयनयेन भणित-स्त्रिभिस्तै , समाहित खलु य· आत्मा ।
न करोति किंचिदप्यन्य, न मुञ्चति स मोक्षमार्ग इति ॥९॥

२११. सम्यग्दर्शन के विना ज्ञान नही होता। ज्ञान के विना चारित्रगुण नही होता। चारित्रगुण के विना मोक्ष (कर्मक्षय) नही होता और मोक्ष के विना निर्वाण (अनतआनंद) नही होता।

२१२ क्रियाविहीन ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानियो की क्रिया व्यर्थ है। जैसे पगु व्यक्ति वन मे लगी आग को देखते हुए भी भागने मे असमर्थ होने से जल मरता है और अन्धा व्यक्ति दौडते हुए भी देखने मे असमर्थ होने से जल मरता है।

२१३. कहा जाता है कि ज्ञान और क्रिया के सयोग से ही फल की प्राप्ति होती है, जैसे कि वन में पगु और अन्धे के मिलने पर पारस्परिक सम्प्रयोग से (वन से निकलकर) दोनो नगर मे प्रविष्ट हो जाते हैं। एक पहिये से रथ नही चलता।

(आ) निश्चय-रत्नत्रयसूत्र

२१४. जो सब नय-पक्षो से रहित है वही समयसार है, उसीको सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान की सज्ञा प्राप्त होती है।

२१५. साधु को नित्य दर्शन, ज्ञान और चारित्र का पालन करना चाहिए। निश्चयनय से इन तीनो को आत्मा ही समझना चाहिए। ये तीनो आत्मस्वरूप ही हैं। अत निश्चय से आत्मा का सेवन ही उचित है।

२१६. जो आत्मा इन तीनो से समाहित हो जाता है और अन्य कुछ नही करता है और न कुछ छोडता है, उसीको निश्चयनय से मोक्षमार्ग कहा गया है।

२१७. अप्पा अप्पम्मि रओ, सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो ।
जाणइ तं सण्णाणं, चरदिह चारित्तमग्गु त्ति ॥१०॥
आत्मा आत्मनि रत , सम्यग्दृष्टि. भवति स्फुट जीव ।
जानाति तत् सज्ञान, चरतीह चारित्रमार्ग इति ॥१०॥

२१८. आया हु महं नाणे, आया मे दंसणे चरित्ते य ।
आया पच्चक्खाणे, आया मे संजमे जोगे ॥११॥
आत्मा खलु मम ज्ञान, आत्मा मे दर्शन चरित्र च ।
आत्मा प्रत्याख्यान, आत्मा मे सयमो योग' ॥११॥

१८. सम्यक्त्वसूत्र

(अ) व्यवहार-सम्यक्त्व . निश्चय-सम्यक्त्व

२१९. सम्मत्तरयणसारं, मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणियं ।
तं जाणिज्जइ णिच्छय-ववहारसरूवदोभेयं ॥१॥
सम्यक्त्वरत्नसार, मोक्षमहावृक्षमूलमिति भणितम् ।
तज्ज्ञायते निश्चय-व्यवहारस्वरूपद्विभेदम् ॥१॥

२२०. जीवादी सद्दहणं, सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो, अप्पा णं हवइ सम्मत्तं ॥२॥
जीवादीनां श्रद्धान, सम्यक्त्व जिनवरै. प्रज्ञप्तम् ।
व्यवहारात् निश्चयत , आत्मा ण भवति सम्यक्त्वम् ॥२॥

२२१. जं मोणं तं सम्मं, जं सम्मं तमिह होइ मोणं ति ।
निच्छयओ इयरस्स उ, सम्मं सम्मत्तहेऊ वि ॥३॥
यन् मौन तत् सम्यक् , यत् सम्यक् तदिह भवति मौनमिति ।
निश्चयत इतरस्य तु, सम्यक्त्वं सम्यक्त्वहेतुरपि ॥३॥

२२२. सम्मत्तविरहिया णं, सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं ।
ण लहंति बोहिलाहं, अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥४॥
सम्यक्त्वविरहिता ण, सुष्ठु अपि उग्र तप चरन्त ण ।
न लभन्ते बोधिलाभ, अपि वर्षसहस्रकोटिभि ॥४॥

२१७. (इस दृष्टि से) आत्मा में लीन आत्मा ही सम्यग्दृष्टि होता है। जो आत्मा को यथार्थरूप में जानता है वही सम्यग्ज्ञान है, और उसमें स्थित रहना ही सम्यक्चारित्र है।

२१८. आत्मा ही मेरा ज्ञान है। आत्मा ही दर्शन और चारित्र है। आत्मा ही प्रत्याख्यान है और आत्मा ही संयम और योग है। अर्थात् ये सब आत्मरूप ही हैं।

१८. सम्यग्दर्शनसूत्र

(अ) व्यवहार-सम्यक्त्व : निश्चय-सम्यक्त्व

२१९. रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन ही श्रेष्ठ है और इसीको मोक्षरूपी महावृक्ष का मूल कहा गया है। यह निश्चय और व्यवहार के रूप में दो प्रकार का है।

२२०. व्यवहारनय से जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान को जिनदेव ने सम्यक्त्व कहा है। निश्चय से तो आत्मा ही सम्यग्दर्शन है।

२२१. (अथवा) निश्चय से जो मौन है वही सम्यग्दर्शन है और जो सम्यग्दर्शन है वही मौन है। व्यवहार से जो निश्चय-सम्यग्दर्शन के हेतु हैं, वे भी सम्यग्दर्शन हैं।

२२२. सम्यक्त्वविहीन व्यक्ति हजारों-करोड़ वर्षों तक भलीभांति उग्र तप करने पर भी बोधिलाभ प्राप्त नहीं करता।

२२३. दंसणभट्ठा भट्ठा, दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा, दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥५॥
दर्शनभ्रष्टा भ्रष्टा, दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम्।
सिध्यन्ति चरितभ्रष्टा, दर्शनभ्रष्टा. न सिध्यन्ति ॥५॥

२२४. दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।
दंसणविहीण पुरिसो, न लहइ तं इच्छियं लाहं ॥६॥
दर्शनशुद्ध शुद्ध, दर्शनशुद्ध लभते निर्वाणम्।
दर्शनविहीन पुरुप, न लभते तम् इष्ट लाभम् ॥६॥

२२५. सम्मत्तस्स य लंभो, तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लंभो।
सम्मद्दंसणलंभो, वरं खु तेलोक्कलंभादो ॥७॥
सम्यक्त्वस्य च लाभ-स्त्रैलोकस्य च भवेत् यो लाभ.।
सम्यग्दर्शनलाभो, वर खलु त्रैलोक्यलाभात् ॥७॥

२२६. किं बहुणा भणिएणं, जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहिंति जे वि भविया, तं जाणइ सम्ममाहप्पं ॥८॥
किं वहुना भणितेन, ये सिद्धा नरवरा. गते काले।
सेत्स्यन्ति येऽपि भव्या, तद् जानीत सम्यक्त्वमाहात्म्यम् ॥८॥

२२७. जह सलिलेण ण लिप्पइ, कमलिणिपत्तं सहावपयडीए।
तह भावेण ण लिप्पइ, कसायविसएहिं सप्पुरिसो ॥९॥
यथा सलिलेन न लिप्यते, कमलिनीपत्र स्वभावप्रकृत्या।
तथा भावेन न लिप्यते, कपायविपयै सत्पुरुप॰ ॥९॥

२२८. उवभोगमिंदियेहिं, दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥१०॥
उपभोगमिन्द्रियै, द्रव्याणामचेतनानामितरेपाम्।
यत् करोति सम्यग्दृष्टि, तत् सर्वं निर्जरानिमित्तम् ॥१०॥

२२९. सेवंतो वि ण सेवइ, असेवमाणो वि सेवगो कोई।
पगरणचेट्ठा कस्स वि, ण य पायरणो त्ति सो होई ॥११॥
सेवमानोऽपि न सेवते, असेवमानोऽपि सेवक कश्चित्।
प्रकरणचेष्टा कस्यापि, न च प्राकरण इति स भवति ॥११॥

२२३. जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वही भ्रष्ट है। दर्शन-भ्रष्ट को कभी निर्वाण-प्राप्ति नही होती। चारित्रविहीन सम्यग्दृष्टि तो (चारित्र धारण करके) सिद्धि प्राप्त कर लेते है। किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित सिद्धि प्राप्त नही कर सकते।

२२४. (वास्तव मे) जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है वही निर्वाण प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन-विहीन पुरुष इष्टलाभ नहीं कर पाता।

२२५ एक ओर सम्यक्त्व का लाभ और दूसरी ओर त्रैलोक्य का लाभ होता हो तो त्रैलोक्य के लाभ से सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है।

२२६ अधिक क्या कहे ? अतीतकाल मे जो श्रेष्ठजन सिद्ध हुए है और जो आगे सिद्ध होगे, वह सम्यक्त्व का ही माहात्म्य है।

२२७ जैसे कमलिनी का पत्र स्वभाव से ही जल से लिप्त नही होता, वैसे ही सत्पुरुष सम्यक्त्व के प्रभाव से कषाय और विषयो से लिप्त नही होता।

२२८. सम्यग्दृष्टि मनुष्य अपनी इन्द्रियो के द्वारा चेतन तथा अचेतन द्रव्यो का जो भी उपभोग करता है, वह सब कर्मो की निर्जरा मे सहायक होता है।

२२९ कोई तो विषयो का सेवन करते हुए भी सेवन नहीं करता और कोई सेवन न करते हुए भी विषयो का सेवन करता है। जैसे कोई पुरुष विवाहादि कार्य मे लगा रहने पर भी उस कार्य का स्वामी न होने से कर्ता नही होता।

२३०. न कामभोगा समयं उवेंति, न यावि भोगा विगइ उवेंति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥१२॥
न कामभोगा समतामुपयन्ति, न चापि भोगा विकृतिमुपयन्ति ।
यस्तत्प्रद्वेषी च परिग्रही च, स तेषु मोहाद् विकृतिमुपैति ॥१२॥

(आ) सम्यग्दर्शन-अंग

२३१. निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूह थिरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ॥१३॥
निःशंकित निःकाङ्क्षित, निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टिश्च ।
उपबृहा स्थिरीकरणे, वात्सल्य प्रभावनाऽष्टौ ॥१३॥

२३२. सम्मदिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥१४॥
सम्यग्दृष्टयो जीवा निश्शङ्का भवन्ति निर्भयास्तेन ।
सप्तभयविप्रमुक्ता, यस्मात् तस्मात तु निश्शङ्का ॥१४॥

२३३. जो दु ण करेदि कंखं, कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु ।
सो णिक्कंखो चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥१५॥
यस्तु न करोति काङ्क्षाम् , कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु ।
स निष्काङ्क्षश्चेतयिता, सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्य ॥१५॥

२३४. नो सक्कियमिच्छई न पूयं, नो वि य वन्दणगं कुओ पसंसं ? ।
से संजए सुव्वए तवस्सी, सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥१६॥
न सत्कृतिमिच्छति न पूजां, नोऽपि च वन्दनकं कुतः प्रशंसाम् ।
स संयत सुव्रतस्तपस्वी, सहित आत्मगवेषकः स भिक्षु ॥१६॥

२३५. खाई-पूया-लाहं, सक्काराइं किमिच्छसे जोई ।
इच्छसि जइ परलोयं, तेहिं किं तुज्झ परलोये ॥१७॥
ख्याति-पूजा-लाभ, सत्कारादि किमिच्छसि योगिन् ! ।
इच्छसि यदि परलोक तैः किं तव परलोके ? ॥१७॥

२३०. (इसी तरह–) कामभोग न समभाव उत्पन्न करते है और न विकृति (विषमता)। जो उनके प्रति द्वेप और ममत्व रखता है वह उनमे विकृति को प्राप्त होता है ।

(आ) सम्यग्दर्शन अग

२३१. सम्यग्दर्शन के ये आठ अग है निशका, निष्काक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ।

२३२. सम्यग्दृष्टि जीव नि शक होते है और इसी कारण निर्भय भी होते है । वे सात प्रकार के भयो—इस लोक का भय, परलोक-भय, अरक्षा-भय, अगुप्ति-भय, मृत्यु-भय, वेदना-भय, और अकस्मात्-भय—से रहित होते है, इसीलिए नि शक होते है । (अर्थात् नि शकता और निर्भयता दोनो एक साथ रहनेवाले गुण है ।)

२३३ जो समस्त कर्मफलो मे और सम्पूर्ण वस्तु-धर्मो मे किसी भी प्रकार की आकाक्षा नही रखता, उसीको निरकाक्ष सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए ।

२३४. जो सत्कार, पूजा और वन्दना तक नही चाहता, वह किसीसे प्रशसा की अपेक्षा कैसे करेगा ? (वास्तव मे) जो सयत है, सुव्रती है, तपस्वी है और आत्मगवेपी है, वही भिक्षु है ।

२३५ हे योगी ! यदि तू परलोक चाहता है तो ख्याति, लाभ, पूजा और सत्कार आदि क्यो चाहता है ? क्या इनसे तुझे परलोक का सुख मिलेगा ?

२३६. जो ण करेदि जुगुप्पं, चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥१८॥
यो न करोति जुगुप्सा, चेतयिता सर्वेपामेव धर्माणाम् ।
स खलु निर्विचिकित्स, सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्य ॥१८॥

२३७. जो हवइ असम्मूढो, चेदा सद्दिट्ठी सव्वभावेसु ।
सो खलु अमूढदिट्ठी, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥१९॥
यो भवति असमूढ , चेतयिता सद्दृष्टि सर्वभावेपु ।
स खलु अमूढदृष्टि, सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्य ॥१९॥

२३८. नाणेणं दंसणेणं च, चरित्तेणं तहेव य ।
खन्तीए मुत्तीए, वड्ढमाणो भवाहि य ॥२०॥
ज्ञानेन दर्शनेन च, चारित्रेण तथैव च ।
क्षान्त्या मुक्त्या, वर्धमानो भव च ॥२०॥

२३९. णो छादए णोऽवि य लूसएज्जा, माणं ण सेवेज्ज पगासणं च ।
ण यावि पण्णे परिहास कुज्जा, ण याऽऽसियावाद वियागरेज्जा ॥
नो छादयेन्नापि च लूषयेद्, मान न सेवेत प्रकाशन च ।
न चापि प्राज्ञ- परिहास कुर्यात् , न चाप्याशीर्वाद व्यागृणीयात् ॥

२४०. जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं, काएण वाया अदु माणसेणं ।
तत्थेव धीरो पडिसाहरेज्जा, आइन्नओ खिप्पमिवक्खलीणं ॥२२॥
यत्रैव पश्येत् क्वचित् दुष्प्रयुक्त, कायेन वाचा अथ मानसेन ।
तत्रैव धीर प्रतिसहरेत्, आजानेय (जात्यश्व.) क्षिप्रमिव खलीनम् ॥

२४१. तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२३॥
तीर्ण खलु असि अर्णव महान्त, किं पुनस्तिष्ठसि तीरमागत ।
अभित्वरस्व पार गन्तु, समय गौतम! मा प्रमादी ॥२३॥

२४२. जो धम्मिएसु भत्तो, अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए ।
पियवयणं जंपंतो, वच्छल्लं तस्स भव्वस्स ॥२४॥
य- धार्मिकेषु भक्त , अनुचरणं करोति परमश्रद्धया ।
प्रियवचन जल्पन् , वात्सल्यं तस्य भव्यस्य ॥२४॥

२३६. जो समस्त धर्मों (वस्तु-गत स्वभाव) के प्रति ग्लानि नही करता, उसीको निर्विचिकित्सा गुण का धारक सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए ।

२३७ जो समस्त भावो के प्रति विमूढ नही है—जागरूक है, निर्भ्रान्ति है, दृष्टिसम्पन्न है, वह अमूढदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है ।

२३८. ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, शान्ति (क्षमा) एव मुक्ति (निर्लोभता) के द्वारा आगे वढना चाहिए—जीवन को वर्धमान वनाना चाहिए ।

२३९. (अमूढदृष्टि या विवेकी) किसीके प्रश्न का उत्तर देते समय न तो शास्त्र के अर्थ को छिपाये और न अपसिद्धान्त के द्वारा शास्त्र की असम्यक् व्याख्या करे । न मान करे और न अपने वड़प्पन का प्रदर्शन करे । न किसी विद्वान् का परिहास करे और न किसीको आशीर्वाद दे ।

२४०. जव कभी अपने मे दुष्प्रयोग की प्रवृत्ति दिखायी दे, उसे तत्काल ही मन, वचन, काय से धीर (सम्यग्दृष्टि) समेट ले, जैसे कि जातिवत घोड़ा रास के द्वारा शीघ्र ही सीधे रास्ते पर आ जाता है ।

२४१. तू महासागर को तो पार कर गया है, अव तट के निकट पहुँचकर क्यों खडा है ? उसे पार करने मे शीघ्रता कर । हे गौतम ! क्षणभर का भी प्रमाद मत कर ।

२४२. जो धार्मिकजनो मे भक्ति (अनुराग) रखता है, परम श्रद्धापूर्वक उनका अनुसरण करता है तथा प्रिय वचन वोलता है, उस भव्य सम्यग्दृष्टि के वात्सल्य होता है ।

२४३. धम्मकहाकहणेण य, बाहिरजोगेहि चावि अणवज्जे ।
धम्मो पहाविदव्वो, जीवेसु दयाणुकंपाए ॥२५॥
धर्मकथाकथनेन च, बाह्ययोगैश्चाप्यनवद्यैः ।
धर्मः प्रभावयितव्यो, जीवेषु दयानुकम्पया ॥२५॥

२४४. पावयणी धम्मकही, वाई नेमित्तिओ तवस्सी य ।
विज्जा सिद्धो य कवी, अट्ठेव पभावगा भणिया ॥२६॥
प्रवचनी धर्मकथी, वादी नैमित्तिकः तपस्वी च ।
विद्यावान् सिद्धः च कविः, अष्टौ प्रभावकाः कथिताः ॥२६॥

१९. सम्यग्ज्ञानसूत्र

२४५. सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणए सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥१॥
श्रुत्वा जानाति कल्याणं, श्रुत्वा जानाति पापकम् ।
उभयमपि जानाति श्रुत्वा, यत् छेकं तत् समाचरेत् ॥१॥

२४६. णाणाऽऽणत्तीए पुणो, दंसणतवनियमसंजमे ठिच्चा ।
विहरइ विसुज्झमाणो, जावज्जीवं पि निवकंपो ॥२॥
ज्ञानाऽऽज्ञप्त्या पुनः, दर्शनतपोनियमसंयमे स्थित्वा ।
विहरति विशुध्यमानः, यावज्जीवमपि निष्कम्पः ॥२॥

२४७. जह जह सुयमोगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं ।
तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसंवेगसद्धाओ ॥३॥
यथा यथा श्रुतमवगाहते, अतिशयरसप्रसरसंयुतमपूर्वम् ।
तथा तथा प्रह्लादते मुनिः, नवनवसंवेगश्रद्धाकः ॥३॥

२४८. सूई जहा ससुत्ता, न नस्सई कयवरम्मि पडिआ वि ।
जीवो वि तह ससुत्तो, न नस्सइ गओ वि संसारे ॥४॥
सूची यथा ससूत्रा, न नश्यति कचवरे पतिताऽपि ।
जीवोऽपि तथा ससूत्रो, न नश्यति गतोऽपि संसारे ॥४॥

२४३ धर्मकथा के कथन द्वारा और निर्दोष बाह्य-योग (ग्रीष्म ऋतु मे पर्वत पर खड़े होकर, वर्षा ऋतु मे वृक्ष के नीचे, शीत ऋतु मे नदी के किनारे ध्यान) द्वारा तथा जीवो पर दया व अनुकम्पा के द्वारा धर्म की प्रभावना करनी चाहिए।

२४४. प्रवचन-कुशल, धर्मकथा करनेवाला, वादी, निमित्तशास्त्र का ज्ञाता, तपस्वी, विद्यासिद्ध तथा ऋद्धि-सिद्धियो का स्वामी और कवि (क्रांतदर्शी) ये आठ पुरुष धर्म-प्रभावक कहे गये है।

१९. सम्यग्ज्ञानसूत्र

२४५. (साधक) सुनकर ही कल्याण या आत्महित का मार्ग जान सकता है। सुनकर ही पाप या अहित का मार्ग जाना जा सकता है। अत सुनकर ही हित और अहित दोनो का मार्ग जानकर जो श्रेयस्कर हो उसका आचरण करना चाहिए।

२४६ (और फिर) ज्ञान के आदेश द्वारा सम्यग्दर्शन-मूलक तप, नियम, सयम मे स्थित होकर कर्म-मल से विशुद्ध (सयमी साधक) जीवनपर्यन्त निष्कम्प (स्थिरचित्त) होकर विहार करता है।

२४७ जैसे-जैसे मुनि अतिशयरस के अतिरेक से युक्त अपूर्वश्रुत का अवगाहन करता है, वैसे-वैसे नित-नूतन वैराग्ययुक्त श्रद्धा से आह्लादित होता है।

२४८. जैसे धागा पिरोयी हुई सुई गिर जाने पर भी खोती नही है, वैसे ही ससूत्र अर्थात् शास्त्रज्ञानयुक्त जीव ससार मे नष्ट नही होता।

२४९. सम्मत्तरयणभट्ठा, जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।
आराहणाविरहिया, भमंति तत्थेव तत्थेव ।।५।।
सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टा, जानन्तो बहुविधानि शास्त्राणि ।
आराधनाविरहिता, भ्रमन्ति तत्रैव तत्रैव ।।५।।

२५०–२५१. परमाणुमित्तयं पि हु, रायादीणं तु विज्जदे जस्स ।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ।।६।।
अप्पाणमयाणंतो, अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी, जीवाजीवे अयाणतो ।।७।।
परमाणुमात्रमपि खलु, रागादीना तु विद्यते यस्य ।
नापि स जानात्यात्मान, तु सर्वागमधरोऽपि ।।६।।
आत्मानमजानन्, अनात्मान चापि सोऽजानन् ।
कथ भवति सम्यग्दृष्टि-र्जीवाजीवान् अजानन् ।।७।।

२५२. जेण तच्चं विबुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिरुज्झदि ।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, तं णाणं जिणसासणे ।।८।।
येन तत्त्व विबुध्यते, येन चित्त निरुध्यते ।
येन आत्मा विशुध्यते, तज् ज्ञानं जिनशासने ।।८।।

२५३. जेण रागा विरज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि ।
जेण मित्ती पभावेज्ज, तं णाणं जिणसासणे ।।९।।
येन रागाद्विरज्यते, येन श्रेयस्सु रज्यते ।
येन मैत्री प्रभाव्येत, तज् ज्ञान जिनशासने ।।९।।

२५४. जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणन्नमविसेसं ।
अपदेससुत्तमज्झं, पस्सदि जिणसासणं सव्वं ।।१०।।
य. पश्यति आत्मान-मबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेपम् ।
अपदेशसूत्रमध्य, पश्यति जिनशासन सर्वम् ।।१०।।

२५५. जो अप्पाणं जाणदि, असुइ-सरीरादु तच्चदो भिन्नं ।
जाणग-रूव-सरूवं, सो सत्थं जाणदे सव्वं ।।११।।
य: आत्मान जानाति, अशुचिशरीरात् तत्त्वत भिन्नम् ।
ज्ञायकरूपस्वरूपं, स शास्त्रं जानाति सर्वम् ।।११।।

२४९. (किन्तु) सम्यक्त्वरूपी रत्न से शून्य अनेक प्रकार के शास्त्रो के ज्ञाता व्यक्ति भी आराधनाविहीन होने से ससार मे अर्थात् नरकादिक गतियो मे भ्रमण करते रहते है।

२५०-२५१. जिस व्यक्ति मे परमाणुभर भी रागादि भाव विद्यमान है, वह समस्त आगम का ज्ञाता होते हुए भी आत्मा को नही जानता। आत्मा को न जानने से अनात्मा को भी नही जानता। इस तरह जब वह जीव-अजीव तत्त्व को नही जानता, तब वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

२५२. जिससे तत्त्व का ज्ञान होता है, चित्त का निरोध होता है तथा आत्मा विशुद्ध होती है, उसीको जिनशासन मे ज्ञान कहा गया है।

२५३ जिससे जीव राग-विमुख होता है, श्रेय मे अनुरक्त होता है और जिससे मैत्रीभाव प्रभावित होता (बढता) है, उसीको जिनशासन मे ज्ञान कहा गया है।

२५४. जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट (देहकर्मातीत) अनन्य (अन्य से रहित), अविशेष (विशेष से रहित) तथा आदि-मध्य और अन्तविहीन (निर्विकल्प) देखता है, वही समग्र जिनशासन को देखता है।

२५५. जो आत्मा को इस अपवित्र शरीर से तत्त्वत. भिन्न तथा ज्ञायक-भावरूप जानता है, वही समस्त शास्त्रो को जानता है।

२५६. सुद्धं तु वियाणंतो, सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं, असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥१२॥
शुद्धं तु विजानन्, शुद्धं चैवात्मानं लभते जीवः।
जानंस्त्वशुद्ध-मशुद्धमेवात्मानं लभते ॥१२॥

२५७. जे अज्झत्थं जाणइ, से वहिया जाणइ।
जे वहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ ॥१३॥
योऽध्यात्मं जानाति, स वहिर्जानाति।
यो वहिर्जानाति, सोऽध्यात्मं जानाति ॥१३॥

२५८. जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ ॥१४॥
य एकं जानाति, स सर्वं जानाति।
यः सर्वं जानाति, स एकं जानाति ॥१४॥

२५९. एदम्हि रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो, होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥१५॥
एतस्मिन् रतो नित्यं, सन्तुष्टो भव नित्यमेतस्मिन्।
एतेन भव तृप्तो, भविष्यति तवोत्तमं सौख्यम् ॥१५॥

२६०. जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥१६॥
यो जानात्यर्हन्तं, द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः।
स जानात्यात्मानं, मोहः खलु याति तस्य लयम् ॥१६॥

२६१. लद्धूणं णिहिं एक्को, तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते।
तह णाणी णाणणिहिं, भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं ॥१७॥
लब्ध्वा निधिमेकस्तस्य फलमनुभवति सुजनत्वेन।
तथा ज्ञानी ज्ञाननिधिं, भुङ्क्ते त्यक्त्वा परतृप्तिम् ॥१७॥

२५६. जो जीव आत्मा को शुद्ध जानता है वही शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है और जो आत्मा को अशुद्ध अर्थात् देहादियुक्त जानता है वह अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है।

२५७ जो अध्यात्म को जानता है वह वाह्य (भौतिक) को जानता है। जो वाह्य को जानता है वह अध्यात्म को जानता है। (इस प्रकार वाह्याभ्यन्तर एक-दूसरे के सहवर्ती हैं।)

२५८ जो एक (आत्मा) को जानता है वह सब (जगत्) को जानता है। जो सबको जानता है, वह एक को जानता है।

२५९ (अत हे भव्य !) तू इस ज्ञान मे सदा लीन रह। इसीमे सदा सतुष्ट रह। इसीसे तृप्त हो। इसीसे तुझे उत्तमसुख (परमसुख) प्राप्त होगा।

२६० जो अर्हन्त भगवान् को द्रव्य-गुण-पर्याय की अपेक्षा से (पूर्ण-रूपेण) जानता है, वही आत्मा को जानता है। उसका मोह निश्चय ही विलीन हो जाता है।

२६१ जैसे कोई व्यक्ति निधि प्राप्त होने पर उसका उपभोग स्वजनो के बीच करता है, वैसे ही ज्ञानीजन प्राप्त ज्ञान-निधि का उपभोग पर-द्रव्यो से विलग होकर अपने मे ही करता है।

२०. सम्यक्चारित्रसूत्र

(अ) व्यवहारचारित्र

२६२. ववहारणयचरित्ते, ववहारणयस्स होदि तवचरणं ।
णिच्छयणयचारित्ते, तवचरणं होदि णिच्छयदो ॥१॥
व्यवहारनयचरित्रे, व्यवहारनयस्य भवति तपश्चरणम् ।
निश्चयनयचारित्रे, तपश्चरण भवति निश्चयत ॥१॥

२६३. असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वदसमिदिगुत्तिरूवं, ववहारणया दु जिणभणियं ॥२॥
अशुभाद्विनिवृत्ति , शुभे प्रवृत्तिश्च जानीहि चारित्रम् ।
व्रतसमितिगुप्तिरूप, व्यवहारनयात् तु जिनभणितम् ॥२॥

२६४. सुयनाणम्मि वि जीवो, वट्टंतो सो न पाउणति मोक्खं ।
जो तवसंजममइए, जोगे न चएइ वोढुं जे ॥३॥
श्रुतज्ञानेऽपि जीवो, वर्तमान स न प्राप्नोति मोक्षम् ।
यस्तप सयममयान्, योगान् न शक्नोति वोढुम् ॥३॥

२६५. सक्किरियाविरहातो, इच्छितसंपावयं ण नाणं ति ।
मग्गण्णू वाऽचेट्ठो, वातविहीणोऽधवा पोतो ॥४॥
सत्क्रियाविरहात् ईप्सित सप्रापक न ज्ञानमिति ।
मार्गज्ञो वाऽचेष्टो, वातविहीनोऽथवा पोत. ॥४॥

२६६. सुबहुं पि सुयमहीयं किं काहिइ चरणविप्पहीणस्स ।
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडी वि ॥५॥
सुबह्वपि श्रुतमधीत, किं करिष्यति चरणविप्रहीणस्य ।
अन्धस्य यथा प्रदीप्ता, दीपशतसहस्रकोटिरपि ॥५॥

२६७. थोवम्मि सिक्खिदे जिणइ, बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो ।
जो पुण चरित्तहीणो, किं तस्स सुदेण बहुएण ॥६॥
स्तोके शिक्षिते जयति, बहुश्रुतं यश्चारित्रसम्पूर्ण ।
य पुनश्चारित्रहीन, किं तस्य श्रुतेन बहुकेन ॥६॥

२०. सम्यक्‌चारित्रसूत्र

(अ) व्यवहारचारित्र

२६२. व्यवहारनय के चारित्र मे व्यवहारनय का तपश्चरण होता है। निश्चयनय के चारित्र मे निश्चयरूप तपश्चरण होता है।

२६३ अशुभ से निवृत्ति और शुभ मे प्रवृत्ति ही व्यवहारचारित्र है, जो पाँच व्रत, पाँच समिति व तीन गुप्ति के रूप मे जिनदेव द्वारा प्ररूपित है। [इस तेरह प्रकार के चारित्र का कथन आगे यथास्थान किया गया है।]

२६४ श्रुतज्ञान मे निमग्न जीव भी यदि तप-संयमरूप योग को धारण करने मे असमर्थ हो तो मोक्ष प्राप्त नही कर सकता।

२६५ (शास्त्र द्वारा मोक्षमार्ग को जान लेने पर भी) सत्क्रिया से रहित ज्ञान इष्ट लक्ष्य प्राप्त नही करा सकता। जैसे मार्ग का जानकार पुरुष इच्छित देश की प्राप्ति के लिए समुचित प्रयत्न न करे तो वह गन्तव्य तक नही पहुँच सकता अथवा अनुकूल वायु की प्रेरणा के अभाव में जलयान इच्छित स्थान तक नही पहुँच सकता।

२६६ चारित्रशून्य पुरुष का विपुल शास्त्राध्ययन भी व्यर्थ ही है, जैसे कि अन्धे के आगे लाखो-करोडो दीपक जलाना व्यर्थ है।

२६७ चारित्रसम्पन्न का अल्पतम ज्ञान भी बहुत है और चारित्र-विहीन का बहुत श्रुतज्ञान भी निष्फल है।

(आ) निश्चयचारित्र

२६८. णिच्छयणयस्स एवं, अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो ।
सो होदि हु सुचरित्तो, जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥७॥
निश्चयनयस्य एव, आत्मा आत्मनि आत्मने सुरत ।
स भवति खलु सुचरित्र , योगी स लभते निर्वाणम् ॥७॥

२६९. जं जाणिऊण जोई, परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं ।
तं चारित्तं भणियं, अवियप्पं कम्मरहिएहिं ॥८॥
यद् ज्ञात्वा योगी, परिहार करोति पुण्यपापानाम् ।
तत् चारित्र भणितम्, अविकल्प कर्मरहितै ॥८॥

२७०. जो परदव्वम्मि सुहं, असुहं रागेण कुणदि जदि भावं ।
सो सगचरित्तभट्ठो, परचरियचरो हवदि जीवो ॥९॥
य परद्रव्ये शुभमशुभ, रागेण करोति यदि भावम् ।
स स्वकचरित्रभ्रष्ट , परचरितचरो भवति जीव ॥९॥

२७१. जो सव्वसंगमुक्कोऽणण्णमणो अप्पणं सहावेण ।
जाणदि पस्सदि णियदं, सो सगचरियं चरदि जीवो ॥१०॥
य सर्वसगमुक्त , अनन्यमना आत्मान स्वभावेन ।
जानाति पश्यति नियत, स स्वकचरित चरति जीव ॥१०॥

२७२. परमट्ठम्हि दु अठिदो, जो कुणदि तवं वदं च धारेई ।
तं सव्वं बालतवं, बालवदं विंति सव्वण्हू ॥११॥
परमार्थे त्वस्थित , य करोति तपो व्रतं च धारयति ।
तत् सर्वं बालतपो, बालव्रत ब्रुवन्ति सर्वज्ञा ॥११॥

२७३. मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए ।
न सो सुक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥१२॥
मासे मासे तु यो बाल , कुशाग्रेण तु भुङ्क्ते ।
न स स्वाख्यातधर्मस्य, कलामर्घति षोडशीम् ॥१२॥

(आ) निश्चयचारित्र

२६८ निश्चयनय के अभिप्रायानुसार आत्मा का आत्मा में आत्मा के लिए तन्मय होना ही (निश्चय-) सम्यक्चारित्र है। ऐसे चारित्रशील योगी को ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

२६९ जिसे जानकर योगी पाप व पुण्य दोनों का परिहार कर देता है, उसे ही कर्मरहित निर्विकल्प चारित्र कहा गया है।

२७० जो राग के वशीभूत होकर पर-द्रव्यों में शुभाशुभ भाव करता है वह जीव स्वकीय चारित्र से भ्रष्ट परचरिताचारी होता है।

२७१. जो परिग्रह-मुक्त तथा अनन्यमन होकर आत्मा को ज्ञानदर्शन-मय स्वभावरूप जानता-देखता है, वह जीव स्वकीयचरिता-चारी है।

२७२ जो (इस प्रकार के) परमार्थ में स्थित नहीं है, उसके तपश्चरण या व्रताचरण आदि सबको सर्वज्ञदेव ने बालतप और बालव्रत कहा है।

२७३ जो बाल (परमार्थशून्य अज्ञानी) महीने-महीने के तप करता है और (पारणा में) कुश के अग्रभाव जितना (नाममात्र का) भोजन करता है, वह सुआख्यात धर्म की सोलहवीं कला को भी नहीं पा सकता।

२७४. चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ॥१३॥
चारित्रं खलु धर्मो, धर्मो यः सः शम इति निर्दिष्टः ।
मोहक्षोभविहीनः, परिणाम आत्मनो हि शमः ॥१३॥

२७५. समदा तह मज्झत्थं, सुद्धो भावो य वीयरायत्तं ।
तह चारित्तं धम्मो, सहावआराहणा भणिया ॥१४॥
समता तथा माध्यस्थ्यं, शुद्धो भावश्च वीतरागत्वम् ।
तथा चारित्रं धर्मः, स्वभावाराधना भणिता ॥१४॥

२७६. सुविदिदपयत्थसुत्तो, संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥१५॥
सुविदितपदार्थसूत्रः, संयमतपःसंयुतो विगतरागः ।
श्रमणः समसुखदुःखो, भणितः शुद्धोपयोग इति ॥१५॥

२७७. सुद्धस्स य सामण्णं, भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं, सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥१६॥
शुद्धस्य च श्रामण्यं, भणितं शुद्धस्य दर्शनं ज्ञानम् ।
शुद्धस्य च निर्वाणं, स एव सिद्धो नमस्तस्मै ॥१६॥

२७८. अइसयमादसमुत्थं, विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिन्नं च सुहं, सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥१७॥
अतिशयमात्मसमुत्थं, विषयातीतमनुपममनन्तम् ।
अव्युच्छिन्नं च सुखं, शुद्धोपयोगप्रसिद्धानाम् ॥१७॥

२७९. जस्स ण विज्जदि रागो, दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णाऽऽसवदि सुहं असुहं, समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥१८॥
२७९ यस्य न विद्यते रागो, द्वेषो मोहो वा सर्वद्रव्येषु ।
नाऽऽस्रवति शुभमशुभं, समसुखदुःखस्य भिक्षोः ॥१८॥

(इ) समन्वय

२८०. णिच्छय सज्झसरूवं, सराय तस्सेव साहणं चरणं ।
तम्हा दो वि य कमसो, पडिच्छमाणं पवुज्झेह ॥१९॥
निश्चयं साध्यस्वरूपं, सरागं तस्यैव साधनं चरणम् ।
तस्मात् द्वे अपि च क्रमशः, प्रतीष्यमाणं प्रबुध्यध्वम् ॥१९॥

२७४. वास्तव मे चारित्र ही धर्म है । इस धर्म को शमरूप कहा गया है । मोह व क्षोभ से रहित आत्मा का निर्मल परिणाम ही शम या समतारूप है ।

२७५. समता, माध्यस्थभाव, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म और स्व-भाव-आराधना—ये सब शब्द एकार्थक है ।

२७६ जिसने (स्व-द्रव्य व पर-द्रव्य के भेदज्ञान के श्रद्धान तथा आचरण द्वारा) पदार्थो तथा सूत्रो को भलीभाँति जान लिया है, जो सयम और तप से युक्त है, विगतराग है, सुख-दु ख म समभाव रखता है, उसी श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा जाता है ।

२७७ (ऐसे) शुद्धोपयोग के ही श्रामण्य कहा गया है । उसीके दर्शन और ज्ञान कहा गया है । उसीका निर्वाण होता है। वही सिद्धपद प्राप्त करता है । उसे मै नमन करता हूँ ।

२७८. शुद्धोपयोग से सिद्ध होनेवाली आत्माओ को अतिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत अर्थात् अतीन्द्रिय, अनुपम, अनन्त और अविनाशी सुख (प्राप्त) है ।

२७९. जिसका समस्त द्रव्यो के प्रति राग, द्वेष और मोह नही है तथा जो सुख-दु ख मे समभाव रखता है, उस भिक्षु के शुभाशुभ कर्मो का आस्रव नही होता ।

(ड) समन्वय

२८०. निश्चयचारित्र तो साध्य-रूप है तथा सराग (व्यवहार) -चारित्र उसका साधन है साधन तथा साध्यस्वरूप दोनो चारित्र को क्रमपूर्वक धारण करने पर जीव प्रबोध को प्राप्त होता है ।

२८१. अब्भंतरसोधीए, बाहिरसोधी वि होदि णियमेण।
अब्भंतर-दोसेण हु, कुणदि णरो बाहिरे दोसे ॥२०॥
अभ्यन्तरशुद्ध्या, बाह्यशुद्धिरपि भवति नियमेन।
अभ्यन्तरदोषेण हि, करोति नर बाह्यान् दोषान् ॥२०॥

२८२. मदमाणमायलोह-विवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति।
परिकहियं भव्वाणं, लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥२१॥
मदमानमायालोभ-विवर्जितभावस्तु भावशुद्धिरिति।
परिकथित भव्याना, लोकालोकप्रदर्शिभि ॥२१॥

२८३. चत्ता पावारंभं, समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि।
ण जहदि जदि मोहादी, ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥२२॥
त्यक्त्वा पापारम्भ, समुत्थितो वा शुभे चरिते।
न जहाति यदि मोहादीन् न लभते स आत्मक शुद्धम् ॥२२॥

२८४. जह व णिरुद्धं असुहं, सुहेण सुहमवि तहेव सुद्धेण।
तम्हा एण कमेण य, जोई झाएउ णियआदं ॥२३॥
यथैव निरुद्धम् अशुभ, शुभेन शुभमपि तथैव शुद्धेन।
तस्मादनेन क्रमेण च, योगी ध्यायतु निजात्मानम् ॥२३॥

२८५. णिच्छयनयस्स चरणाय-विघाए नाणदंसणवहोऽवि।
ववहारस्स उ चरणे, हयम्मि भयणा हु सेसाणं ॥२४॥
निश्चयनयस्य चरणात्म-विघाते ज्ञानदर्शनवधोऽपि।
व्यवहारस्य तु चरणे, हते भजना खलु शेषयो ॥२४॥

२८६–२८७. सद्धं नगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं।
खन्ति निउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पघंसयं ॥२५॥
तवनारायजुत्तेण, भित्तूण कम्मकंचुयं।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥२६॥
श्रद्धा नगर कृत्वा, तप सवरमर्गलाम्।
क्षान्ति निपुणप्राकार, त्रिगुप्त दुष्प्रधर्षकम् ॥२५॥
तपोनाराचयुक्तेन, भित्त्वा कर्मकञ्चुकम्।
मुनिर्विगतसग्राम, भवात् परिमुच्यते ॥२६॥

२८१ आभ्यन्तर-शुद्धि होने पर बाह्य-शुद्धि भी नियमत होती ही है। आभ्यन्तर-दोष से ही मनुष्य बाह्य दोष करता है।

२८२ मद, मान, माया और लोभ से रहित भाव ही भावशुद्धि है, ऐसा लोकालोक के ज्ञाता-द्रष्टा सर्वज्ञदेव का भव्यजीवो के लिए उपदेश है।

२८३ पाप-आरम्भ (प्रवृत्ति) को त्यागकर शुभ अर्थात् व्यवहार-चारित्र मे आरूढ रहने पर भी यदि जीव मोहादि भावो से मुक्त नही होता है तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त नही करता।

२८४ (इसीलिए कहा गया है कि) जैसे शुभ चारित्र के द्वारा अशुभ (प्रवृत्ति) का निरोध किया जाता है, वैसे ही शुद्ध (-उपयोग) के द्वारा शुभ (प्रवृत्ति) का निरोध किया जाता है। अतएव इसी क्रम से—व्यवहार और निश्चय के पूर्वापर क्रम से—योगी आत्मा का ध्यान करे।

२८५ निश्चयनय के अनुसार चारित्र (भावशुद्धि) का घात होने पर ज्ञान-दर्शन का भी घात हो जाता है, परन्तु व्यवहारनय के अनुसार चारित्र का घात होने पर ज्ञान-दर्शन का घात हो भी सकता है, नही भी हो सकता। (वस्तुत. ज्ञान-दर्शन की व्याप्ति भावशुद्धि के साथ है, बाह्य-क्रिया के साथ नही।)

२८६–२८७. श्रद्धा को नगर, तप और सवर को अर्गला, क्षमा को (बुर्ज, खाई, और शतघ्नीस्वरूप) त्रिगुप्ति (मन-वचन-काय) से सुरक्षित, तथा अजेय सुदृढ प्राकार बनाकर तपरूप बाणो से युक्त धनुष से कर्म-कवच को भेदकर (आतरिक) सग्राम का विजेता मुनि ससार से मुक्त होता है।

२१. साधनासूत्र

२८८. आहारासण-णिद्दाजयं, च काऊण जिणवरमएण।
झायव्वो णियअप्पा, णाऊणं गुरुपसाएण ॥१॥
आहारासन-निद्राजय, च कृत्वा जिनवरमतेन।
ध्यातव्य निजात्मा, ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ॥१॥

२८९. नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अण्णाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥२॥
ज्ञानस्य सर्वस्य प्रकाशनया, अज्ञानमोहस्य विवर्जनया।
रागस्य द्वेषस्य च सक्षयेण, एकान्तसौख्य समुपैति मोक्षम् ॥२॥

२९०. तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा वालजणस्स दूरा।
सज्झायएगंतनिवेसणा य, सुत्तत्थ संचिंतणया धिई य ॥३॥
तस्यैष मार्गो गुरुवृद्धसेवा, विवर्जना वालजनस्य दूरात्।
स्वाध्यायैकान्तनिवेशना च, सूत्रार्थसचिन्तनता धृतिश्च ॥३॥

२९१. आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं, सहायमिच्छे निउणत्थवुद्धिं।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं समाहिकामे समणे तवस्सी ॥४॥
आहारमिच्छेद् मितमेपणीय, सखायमिच्छेद् निपुणार्थवुद्धिम्।
निकेतमिच्छेद् विवेकयोग्य, समाधिकाम श्रमणस्तपस्वी ॥४॥

२९२. हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा।
न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा ॥५॥
हिताहारा मिताहारा अल्पाहारा च ये नरा।
न तान् वैद्या चिकित्सन्ति आत्मान ते चिकित्सका ॥५॥

२९३. रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥६॥
रसा प्रकाम न निषेवितव्या', प्रायो रसा दीप्तिकरा नराणाम्।
दीप्त च कामाः समभिद्रवन्ति, द्रुम यथा स्वादुफलमिव पक्षिण' ॥६॥

२१. साधनासूत्र

२८८. जिनदेव के मतानुसार आहार, आसन तथा निद्रा पर विजय प्राप्त करके गुरुप्रसाद से ज्ञान प्राप्त कर निजात्मा का ध्यान करना चाहिए।

२८९ सम्पूर्णज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान और मोह के परिहार से तथा राग-द्वेष के पूर्णक्षय से जीव एकान्त सुख अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।

२९०. गुरु तथा वृद्ध-जनों की सेवा करना, अज्ञानी लोगों के सम्पर्क से दूर रहना, स्वाध्याय करना, एकान्तवास करना, सूत्र और अर्थ का सम्यक् चिन्तन करना तथा धैर्य रखना—ये (दुःखों से मुक्ति के) उपाय है।

२९१. समाधि का अभिलाषी तपस्वी श्रमण परिमित तथा एषणीय आहार की ही इच्छा करे, तत्त्वार्थ मे निपुण (प्राज्ञ) साथी को ही चाहे तथा विवेकयुक्त अर्थात् विविक्त (एकान्त) स्थान मे ही निवास करे।

२९२. जो मनुष्य हित-मित तथा अल्प आहार करते है, उन्हे कभी वैद्य से चिकित्सा कराने की आवश्यकता ही नही पडती। वे तो स्वय अपने चिकित्सक होते है। अपनी अन्तर्शुद्धि मे लगे रहते है।

२९३. रसो का अत्यधिक सेवन नही करना चाहिए। रस प्रायः उन्मादवर्धक होते है—पुष्टिवर्धक होते है। मदाविष्ट या विषयासक्त मनुष्य को काम वैसे ही सताता या उत्पीड़ित करता है जैसे स्वादिष्ट फलवाले वृक्ष को पक्षी।

२९४. विवित्तसेज्जाऽऽसणजंतियाण, ओमाऽसणाणं दमिइंदियाण ।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं, पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ॥७॥
विविक्तशय्याऽऽसनयन्त्रितानाम्, अवमाऽशनानां दमितेन्द्रियाणाम्
न रागशत्रुर्धर्षयति चित्तं, पराजितो व्याधिरिवौषधैः ॥७॥

२९५. जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढई ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥८॥
जरा यावत् न पीडयति, व्याधिः यावत् न वर्द्धते ।
यावदिन्द्रियाणि न हीयन्ते, तावत् धर्मं समाचरेत् ॥८॥

२२. द्विविध धर्मसूत्र

२९६. दो चेव जिणवरेहिं, जाइजरामरणविप्पमुक्केहिं ।
लोगम्मि पहा भणिया, सुस्समण सुसावगो वा वि ॥१॥
द्वौ चैव जिनवरेन्द्रैः, जातिजरामरणविप्रमुक्तैः ।
लोके पथौ भणितौ, सुश्रमणः सुश्रावकः चापि ॥१॥

२९७. दाणं पूया मुक्खं, सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ।
झाणाज्झयणं मुक्खं, जइधम्मे तं विणा तहा सो वि ॥२॥
दानं पूजा मुख्यः, श्रावकधर्मे न श्रावकाः तेन विना ।
ध्यानाध्ययनं मुख्यो, यतिधर्मे तं विना तथा सोऽपि ॥२॥

२९८. सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा ।
गारत्थेहि य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥३॥
सन्त्येकेभ्यो भिक्षुभ्यः, अगारस्थाः संयमोत्तराः ।
अगारस्थेभ्यश्च सर्वेभ्यः, साधवः संयमोत्तराः ॥३॥

२९९. नो खलु अहं तहा, संचाएमि मुंडे जाव पव्वइत्तए ।
अहं णं देवाणुप्पियाणं, अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं
दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि ॥४॥
नो खल्वहं तथा सशक्नोमि मुण्डो यावत् प्रव्रजितुम् ।
अहं खलु देवानुप्रियाणाम् अन्तिके पञ्चानुव्रतिकम् सप्तशिक्षा-
व्रतिकं द्वादशविधम् गृहिधर्मं प्रतिपत्स्ये ॥४॥

२९४. जो विविक्त (स्त्री आदि से रहित) शय्यासन से नियन्त्रित (युक्त) है, अल्प-आहारी है और दमितेन्द्रिय है, उसके चित्त को राग-द्वेषरूपी विकार पराजित नहीं कर सकते, जैसे औषधि से पराजित या विनष्ट व्याधि पुन नहीं सताती ।

२९५ जब तक बुढ़ापा नहीं सताता, जब तक व्याधियां (रोगादि) नहीं बढ़ती और इन्द्रियां अशक्त (अक्षम) नहीं हो जाती, तब तक (यथाशक्ति) धर्माचरण कर लेना चाहिए । (क्योंकि बाद में अशक्त एव असमर्थ देहेन्द्रियों से धर्माचरण नहीं हो सकेगा ।)

२२. द्विविध धर्मसूत्र

२९६. जन्म-जरा-मरण से मुक्त जिनेन्द्रदेव ने इस लोक में दो ही मार्ग बतलाये है—एक है उत्तम श्रमणों का और दूसरा है उत्तम श्रावकों का ।

२९७. श्रावक-धर्म में दान और पूजा मुख्य है जिनके बिना श्रावक नहीं होता तथा श्रमण-धर्म में ध्यान व अध्ययन मुख्य है, जिनके बिना श्रमण नहीं होता ।

२९८. यद्यपि शुद्धाचारी साधुजन सभी गृहस्थों से सयम में श्रेष्ठ होते है, तथापि कुछ (शिथिलाचारी) भिक्षुओं की अपेक्षा गृहस्थ संयम में श्रेष्ठ होते है ।

२९९. जो व्यक्ति मुण्डित (प्रव्रजित) होकर अनगारधर्म स्वीकार करने में असमर्थ होता है, वह जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित श्रावक-धर्म को अगीकार करता है ।

३००. पंच य अणुव्वयाइं, सत्त उ सिक्खा उ देसजइधम्मो ।
सव्वेण व देसेण व, तेण जुओ होइ देसजई ॥५॥
पञ्च च अनुव्रतानि, सप्त तु शिक्षा देशयतिधर्मः ।
सर्वेण वा देशेन वा, तेन युतो भवति देशयतिः ॥५॥

२३. श्रावकधर्मसूत्र

३०१. संपत्तदंसणाई, पइदियहं जइजणा सुणेई य ।
सामायारिं परमं जो, खलु तं सावगं विंति ॥१॥
सम्प्राप्तदर्शनादिः, प्रतिदिवसं यतिजनाच्छृणोति च ।
सामाचारीं परमां यः, खलु तं श्रावकं ब्रुवते ॥१॥

३०२. पंचुंबरसहियाइं, सत्त वि विसणाई जो विवज्जेइ ।
सम्मत्तविसुद्धमई, सो दंसणसावओ भणिओ ॥२॥
पञ्चोदुम्बरसहितानि सप्त अपि व्यसनानि यः विवर्जयति ।
सम्यक्त्वविशुद्धमतिः स दर्शनश्रावकः भणितः ॥२॥

३०३. इत्थी जूयं मज्जं, मिगव्व वयणे तहा फरुसया य ।
दंडफरुसत्तमत्थस्स दूसणं सत्त वसणाइं ॥३॥
स्त्री द्यूतं मद्यं, मृगया वचने तथा परुषता च ।
दण्डपरुषत्वम् अर्थस्य दूषणं सप्त व्यसनानि ॥३॥

३०४. मांसासणेण वड्ढइ दप्पो दप्पेण मज्जमहिलसइ ।
जूयं पि रमइ तो तं, पि वण्णिए पाउणइ दोसे ॥४॥
मांसाशनेन वर्धते दर्पः दर्पेण मद्यम् अभिलषति ।
द्यूतम् अपि रमते ततः तद् अपि वर्णितान् प्राप्नोति दोषान् ॥४॥

३०५. लोइयसत्थम्मि वि, वण्णियं जहा गयणगामिणो विप्पा ।
भुवि मंसासणेण पडिया, तम्हा ण पउंजए मंसं ॥५॥
लौकिकशास्त्रे अपि वर्णितम् यथा गगनगामिनः विप्राः ।
भुवि मांसाशनेन पतिताः तस्माद् न प्रयोजयेद् मांसम् ॥५॥

३००. श्रावकधर्म या श्रावकाचार मे पाँच व्रत तथा सात शिक्षाव्रत होते हैं। जो व्यक्ति इन सबका या इनमें से कुछ का आचरण करता है, वह श्रावक कहलाता है।

२३. श्रावकधर्मसूत्र

३०१ जो सम्यग्दृष्टि व्यक्ति प्रतिदिन यतिजनो से परम सामाचारी (आचार-विषयक उपदेश) श्रवण करता है, उसे श्रावक कहते हैं।

३०२. पाँच उदुम्बर फल (उमर, कठूमर, गूलर, पीपल तथा वड़) के साथ-साथ सात व्यसनो का त्याग करनेवाला वह व्यक्ति 'दार्शनिक श्रावक' कहा जाता है, जिसकी मति सम्यग्दर्शन से विशुद्ध हो गयी है।

३०३. परस्त्री का सहवास, द्यूत-क्रीड़ा, शिकार, वचन-परुषता, कठोर दण्ड तथा अर्थ-दूषण (चोरी आदि) ये सात व्यसन हैं। (श्रावक इनका त्याग करता है।)

३०४ मासाहार से दर्प वढता है। दर्प से मनुष्य मे मद्यपान की अभि-लाषा जागती है और तव वह जुआ भी खेलता है। इस प्रकार (एक मासाहार से ही) मनुष्य उक्त वर्णित सर्व दोषो का भाजन (घर) वन जाता है।

३०५. लौकिक शास्त्र में भी यह उल्लेख मिलता है कि मास खाने से आकाश मे विहार करनेवाला विप्र भूमि पर गिर पड़ा, अर्थात् पतित हो गया। अतएव मास का सेवन (कदापि) नही करना चाहिए।

३०६. मज्जेण णरो अवसो, कुणेइ कम्माणि णिंदणिज्जाइं ।
इहलोए परलोए,[1] अणुहवइ अणंतयं दुक्खं ।।६।।
मद्येन नर अवश करोति कर्माणि निन्दनीयानि ।
इहलोके परलोके अनुभवति अनन्तक दु खम् ।।६।।

३०७. संवेगजणिदकरणा, णिस्सल्ला मंदरो व्व णिक्कंपा ।
जस्स दढा जिणभत्ती, तस्स भयं णत्थि ससारे ।।७।।
सवेगजनितकरणा, नि शल्या मन्दर इव निष्कम्पा ।
यस्य दृढा जिनभक्ति, तस्य भय नास्ति ससारे ।।७।।

३०८. सत्तू वि मित्तभावं, जम्हा उवयाइ विणयसीलस्स ।
विणओ तिविहेण तओ, कायव्वो देसविरएण ।।८।।
शत्रु' अपि मित्रभावम् यस्माद् उपयाति विनयशीलस्य ।
विनय त्रिविधेन तत कर्त्तव्य देशविरतेन ।।८।।

३०९. पाणिवहमुसावाए, अदत्तपरदारनियमणेहिं च ।
अपरिमिइच्छाओऽवि य, अणुव्वयाइं विरमणाइं ।।९।।
प्राणिवधमृषावादा-दत्तपरदारनियमनैश्च ।
अपरिमितेच्छातोऽपि च, अणुव्रतानि विरमणानि ।।९।।

३१०. बंधवहच्छविच्छेए, अइभारे भत्तपाणवुच्छेए ।
कोहाइदूसियमणो, गोमणुयाईण नो कुज्जा ।।१०।।
बन्धवधछविच्छेदान्, अतिभारान् भक्तपानव्युच्छेदान् ।
क्रोधादिदूषितमना, गोमनुष्यादीना न कुर्यात् ।।१०।।

३११. थूलमुसावायस्स उ, विरई दुच्चं, स पंचहा होइ ।
कन्नागोभु आलिय - नासहरण - कूडसक्खिज्जे ।।११।।
स्थूलमृषावादस्य तु, विरति. द्वितीय स पचधा भवति ।
कन्यागोभूअलीक-न्यासहरण-कूटसाक्ष्याणि ।।११।।

३१२. सहसा अब्भक्खाणं, रहसा य सदारमंतभेयं च ।
मोसोवएसयं, कूडलेहकरणं च वज्जिज्जा ।।१२।।
सहसाभ्याख्यान, रहसा च स्वदारमन्त्रभेद च ।
मृषोपदेश कूटलेखकरण च वर्जयेत् ।।१२।।

३०६. (मास की तरह) मद्यपान से भी मनुष्य मदहोश होकर निन्दनीय कर्म करता है और फलस्वरूप इस लोक तथा परलोक मे अनन्त दु खो का अनुभव करता है।

३०७. जिसके हृदय मे ससार के प्रति वैराग्य उत्पन्न करनेवाली, शल्यरहित तथा मेरुवत् निष्कम्प और दृढ जिन-भक्ति है, उसे ससार मे किसी तरह का भय नही है।

३०८ विनयशील व्यक्ति का शत्रु भी मित्र बन जाता है। इसलिए देशविरत या अणुव्रती श्रावक को मन-वचन-काय से सम्यक्त्वादि गुणो की तथा गुणीजनो की विनय करना चाहिए।

३०९. प्राणि-वध (हिंसा), मृषावाद (असत्य वचन), बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण (चोरी), परस्त्री-सेवन (कुशील) तथा अपरिमित कामना (परिग्रह) इन पाँचो पापो से विरति अणुव्रत है।

३१०. प्राणिवध से विरत श्रावक को—क्रोधादि कषायो से मन को दूषित करके पशु व मनुष्य आदि का बन्धन, डडे आदि से ताड़न-पीड़न, नाक आदि का छेदन, शक्ति से अधिक भार लादना तथा खान-पान रोकना आदि कर्म नही करने चाहिए। क्योकि ये कर्म भी हिंसा जैसे ही है। इनका त्याग स्थूल हिंसा-विरति है।

३११. स्थूल (मोटे तौर पर) असत्य-विरति दूसरा अणुव्रत है। (हिंसा की तरह) इसके भी पाँच भेद है—कन्या-अलीक, गो-अलीक व भू-अलीक अर्थात् कन्या, गो(पशु) तथा भूमि के विषय मे झूठ बोलना, किसीकी धरोहर को दबा लेना और झूठी गवाही देना। इनका त्याग स्थूल असत्य-विरति है।

३१२ (साथ ही साथ) सत्य-अणुव्रती बिना सोचे-समझे सहसा न तो कोई बात करता है, न किसीका रहस्योद्घाटन करता है, न अपनी पत्नी की कोई गुप्त बात मित्रो आदि मे प्रकट करता है, न मिथ्या (अहितकारी) उपदेश करता है और न कूटलेख-क्रिया (जाली हस्ताक्षर या जाली दस्तावेज आदि) करता है।

३१३. वज्जिज्जा तेनाहड - तक्करजोगं विरुद्धरज्जं च ।
कूडतुलकूडमाणं, तप्पडिरूवं च ववहारं ॥१३॥
वर्जयेत् स्तेनाहृतं, तस्करयोग विरुद्धराज्य च ।
कूटतुलाकूटमाने, तत्प्रतिरूपं च व्यवहारम् ॥१३॥

३१४. इत्तरियपरिग्गहिया-ऽपरिगहियागमणा-णंगकीडं च ।
परविवाहक्करणं,* कामे तिव्वाभिलासं च ॥१४॥
इत्वरपरिगृहीता-ऽपरिगृहीतागमना-नङ्गक्रीडा च ।
पर (द्वितीय) विवाहकरण, कामे तीव्राभिलाप च ॥१४॥

३१५-३१६. विरया परिग्गहाओ, अपरिमिआओ अणंततण्हाओ ।
बहुदोससंकुलाओ, नरयगइगमणपंथाओ ॥१५॥
खित्ताइ हिरण्णाई धणाइ दुपयाइ - कुवियगस्स तहा ।
सम्मं विसुद्धचित्तो, न पमाण।इक्कमं कुज्जा ॥१६॥

विरता. परिग्रहात्-अपरिमिताद्-अनन्ततृष्णात् ।
बहुदोपसकुलात्, नरकगतिगमनपथात् ॥१५॥
क्षेत्रादेः हिरण्यादे. धनादे द्विपदादे. कुप्यकस्य तथा ।
सम्यग्विशुद्धचित्तो, न प्रमाणातिक्रम कुर्यात् ॥१६॥

३१७. भाविज्ज य संतोसं, गहियमियाणिं अजाणमाणेणं ।
थोवं पुणो न एवं, गिण्हिस्सामो त्ति चिंतिज्जा ॥१७॥
भावयेच्च सन्तोप, गृहीतमिदानीमजानानेन ।
स्तोक पुन न एव, ग्रहीप्याम इति चिन्तयेत् ॥१७॥

३१८. जं च दिसावेरमणं, अणत्थदंडाउ जं च वेरमणं ।
देसावगासियं पि य, गुणव्वयाइं भवे ताइं ॥१८॥
यच्च दिग्विरमणं, अनर्थदण्डात् यच्च विरमणम् ।
देशावकाशिकमपि च, गुणव्रतानि भवेयुस्तानि ॥१८॥

---

* परो अन्नो जो विवाहो अप्पणो चेव स परविवाहो । किं भणियं होइ? भण्णइ-विसिट्ठसतोसाभावाओ अप्पणा अन्नाओ कन्नओ परिणेइ ति । पुण अइयारो सदारसतुट्ठस्स होइ ॥ —सावयधम्म पचासक चूर्णि, ७६ ।

३१३. अचौर्याणुव्रती श्रावक को न चोरी का माल खरीदना चाहिए, न चोरी में प्रेरक बनना चाहिए। न ही राज्य-विरुद्ध अर्थात् टैक्स आदि की चोरी व नियम-विरुद्ध कोई कार्य करना चाहिए। वस्तुओ मे मिलावट आदि नही करना चाहिए। जाली सिक्के या नोट आदि नही चलाना चाहिए।

३१४ स्व-स्त्री मे सन्तुष्ट ब्रह्मचर्याणुव्रती श्रावक को विवाहित या अविवाहित बदचलन स्त्रियो से सर्वथा दूर रहना चाहिए। अनंग-क्रीड़ा नही करनी चाहिए। अपनी सन्तान के अतिरिक्त दूसरो के विवाह आदि कराने में दिलचस्पी नही लेनी चाहिए। (इसमे यह अर्थ भी निहित है कि अपना भी 'पर' यानी दूसरा विवाह नही करना चाहिए।) काम-सेवन की तीव्र लालसा का त्याग करना चाहिए।

१५-३१६ अपरिमित परिग्रह अनन्ततृष्णा का कारण है, वह बहुत दोषयुक्त है तथा नरकगति का मार्ग है। अत. परिग्रह-परिमाणाणुव्रती विशुद्धचित्त श्रावक को क्षेत्र-मकान, सोना-चाँदी, धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद तथा भण्डार (सग्रह) आदि परिग्रह के अंगीकृत परिमाण का अतिक्रमण नही करना चाहिए।

३१७ उसे सन्तोष रखना चाहिए। उसे ऐसा विचार नही करना चाहिए कि 'इस समय मैंने बिना जाने थोड़ा परिमाण किया, आगे आवश्यक होने पर पुन. अधिक ग्रहण कर लूँगा।'

३१८. श्रावक के सात शील व्रतो में ये तीन गुणव्रत होते है—दिशा-विरति, अनर्थदण्डविरति तथा देशावकाशिक।

३१९. उड्ढमहे तिरियं पि य, दिसासु परिमाणकरणमिह पढमं ।
भणियं गुणव्वयं खलु, सावगधम्मम्मि वीरेण ॥१९॥
ऊर्ध्वमधस्तिर्यगपि च, दिक्षु परिमाणकरणमिह प्रथमम् ।
भणित गुणव्रत खलु, श्रावकधर्मे वीरेण ॥१९॥

३२०. वयभंगकारणं होइ, जम्मि देसम्मि तत्थ णियमेण ।
कीरइ गमणणियत्ती, तं जाण गुणव्वय विदिय ॥२०॥
व्रतभङ्गकारण भवति, यस्मिन् देशे तत्र नियमेन ।
क्रियते गमननिवृत्ति , तद् जानीहि गुणव्रत द्वितीयम् ॥२०॥

३२१. विरई अणत्थदंडे, तच्चं, स चउव्विहो अवज्झाणो ।
पमायायरिय हिंसप्पयाण पावोवएसे य ॥२१॥
विरतिरनर्थदण्डे, तृतीय, स चतुर्विध अपध्यानम् ।
प्रमादाचरितम् हिंसाप्रदानम् पापोपदेशश्च ॥२१॥

३२२. अट्ठेण तं न बधइ, जमणट्ठेणं तु थोवबहुभावा ।
अट्ठे कालाईया, नियामगा न उ अणट्ठाए ॥२२॥
अर्थेन तत् न बध्नाति, यदनर्थेन स्तोकबहुभावात् ।
अर्थे कालादिका, नियामका. न त्वनर्थके ॥२२॥

३२३. कंदप्पं कुक्कुइयं, मोहरियं संजुयाहिगरणं च ।
उवभोगपरीभोगा-इरेयगयं चित्थ वज्जइ ॥२३॥
कान्दर्प्यम् कौत्कुच्य, मौखर्य सयुक्ताधिकरण च ।
उपभोगपरिभोगा-तिरेकगत चात्र वर्जयेत् ॥२३॥

३२४. भोगाणं परिसखा, सामाइय - अतिहिसंविभागो य ।
पोसहविही य सव्वो, चउरो सिक्खाउ वुत्ताओ ॥२४॥
भोगाना परिसख्या, सामायिकम् अतिथिसविभागश्च ।
पौषधविधिश्च सर्व, चतस्र शिक्षा उक्ता ॥२४॥

३२५. वज्जणमणंतगुंबरि, अच्चंगाणं च भोगओ माणं ।
कम्मयओ खरकम्मा-इयाण अवरं इमं भणियं ॥२५॥
वर्जनमनन्तकमुदम्बरि-अत्यङ्गाना च भोगतो मानम् ।
कर्मकत खरकर्मादिकाना अपरम् इद भणितम् ॥२५॥

३१९ (व्यापार आदि के क्षेत्र को परिमित करने के अभिप्राय से) ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशाओ मे गमनागमन या सम्पर्क आदि की सीमा बाँधना प्रथम दिग्व्रत नामक गुणव्रत है ।

३२० जिस देश मे जाने से (किसी भी) व्रत का भग होता हो या उसमे दोप लगता हो, उस देश मे जाने की नियमपूर्वक निवृत्ति देशावकाशिक नामक दूसरा गुणव्रत है ।

३२१ प्रयोजन-विहीन कार्य करना या किसीको सताना अनर्थदण्ड कहलाता है । इसके चार भेद है--अपध्यान, प्रमादपूर्णचर्या, हिसा के उपकरण आदि देना और पाप का उपदेश । इन चारो का त्याग अनर्थदण्ड-विरति नामक तीसरा गुणव्रत है ।

३२२. प्रयोजनवश कार्य करने से अल्प कर्मवन्ध होता है और विना प्रयोजन कार्य करने से अधिक कर्मवन्ध होता है । क्योकि सप्रयोजन कार्य मे तो देश-काल आदि परिस्थितियो की अपेक्षा का प्रश्न रहता है, लेकिन विना प्रयोजन प्रवृत्ति तो सदा ही (अमर्यादितरूप से) की जा सकती है ।

३२३. अनर्थदण्ड-विरत श्रावक को कन्दर्प (हास्यपूर्ण अशिष्ट वचन-प्रयोग), कौत्कुच्य (शारीरिक कुचेष्टा), मौखर्य (व्यर्थ वकवास), हिसा के अधिकरणो का सयोजन तथा उपभोग-परिभोग की मर्यादा का अतिरेक नही करना चाहिए ।

३२४. चार शिक्षाव्रत इस प्रकार है--भोगो का परिमाण, सामायिक, अतिथि-सविभाग और प्रोपधोपवास ।

३२५ भोगोपभोग-परिमाणव्रत दो प्रकार का है--भोजनरूप तथा कार्य या व्यापाररूप । कन्दमूल आदि अनन्तकायिक वनस्पति, उदुम्वर फल तथा मद्यमासादि का त्याग या परिमाण भोजन-विपयक भोगोपभोग व्रत है, और खरकर्म अर्थात् हिसापरक आजीविका आदि का त्याग व्यापार-विपयक भोगोपभोग-परिमाण व्रत है ।

३२६. सावज्जजोगपरिरक्खणट्ठा, सामाइयं केवलियं पसत्थं ।
गिहत्थधम्मा परमं ति नच्चा, कुज्जा बुहो आयहियं परत्था ॥२६॥
सावद्ययोगपरिरक्षणार्थं, सामायिकं केवलिक प्रशस्तम् ।
गृहस्थधर्मात् परममिति ज्ञात्वा, कुर्याद् बुध आत्महित परत्र॥२६॥

३२७. सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥२७॥
सामायिके तु कृते, श्रमण इव श्रावको भवति यस्मात् ।
एतेन कारणेन, बहुश सामायिक कुर्यात् ॥२७॥

३२८. सामाइयं ति काउं, परचिंतं जो उ चिंतई सड्ढो ।
अट्टवसट्टोवगओ, निरत्थय तस्स सामाइयं ॥२८॥
सामायिकमिति कृत्वा, परचिन्ता यस्तु चिन्तयति श्राद्ध ।
आर्तवशार्तोपगत, निरर्थक तस्य सामायिकम् ॥२८॥

३२९. आहारदेहसक्कार-बंभाऽवावारपोसहो य ऽणं ।
देसे सव्वे य इमं, चरमे सामाइयं णियमा ॥२९॥
आहारदेहसत्कार–ब्रह्मचर्यमव्यापारपोषध च ।
देशे सर्वस्मिन् च इद, चरमे सामायिकं नियमात् ॥२९॥

३३०. अन्नाईणं सुद्धाणं, कप्पणिज्जाण देसकालजुत्तं ।
दाणं जईणमुचियं, गिहीण सिक्खावयं भणियं ॥३०॥
अन्नादीना शुद्धाना, कल्पनीयाना देशकालयुतम् ।
दान यतिभ्य उचित, गृहिणा शिक्षाव्रत भणितम् ॥३०॥

३३१. आहारोसह-सत्थाभय-भेओ जं चउव्विहं दाणं ।
तं वुच्चइ दायव्वं, णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ॥३१॥
आहारौषध-शास्त्रानुभयभेदात् यत् चतुर्विधम् दानम् ।
तद् उच्यते दातव्य निर्दिष्टम् उपासक-अध्ययने ॥३१॥

३३२. दाणं भोयणमेत्तं, दिज्जइ धन्नो हवेइ सायारो ।
पत्तापत्तविसेसं, संदंसणे किं वियारेण ॥३२॥
दान भोजनमात्र, दीयते धन्यो भवति सागार ।
पात्रापात्रविशेषसदर्शने किं विचारेण ॥३२॥

३२६. सावद्ययोग अर्थात् हिंसारम्भ से बचने के लिए केवल सामायिक ही प्रशस्त है। उसे श्रेष्ठ गृहस्थधर्म जानकर विद्वान् को आत्म-हित तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिए सामायिक करना चाहिए।

३२७. सामायिक करने में अर्थात् सामायिक के काल में श्रावक भी श्रमण के समान (सर्व सावद्ययोग से रहित एवं समताभावयुक्त) हो जाता है। अतएव अनेक प्रकार से सामायिक करना चाहिए।

३२८. सामायिक करते समय जो श्रावक पर-चिन्ता करता है, वह आर्त्त-ध्यान को प्राप्त होता है। उसकी सामायिक निरर्थक है।

३२९. आहार, शरीर-सत्कार, अब्रह्म तथा आरम्भत्याग ये चार बातें प्रोषधोपवास नामक शिक्षा-व्रत में आती हैं। इन चारों का त्याग एकदेश भी होता है और सर्वदेश भी होता है। जो सम्पूर्णतः प्रोषध करता है, उसे नियमतः सामायिक करनी चाहिए।

३३०. उद्गम आदि दोषों से रहित देशकालानुकूल, शुद्ध अन्नादिक का उचित रीति से (मुनि आदि संयमियों को) दान देना गृहस्थों का अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत है। (इसका यह भी अर्थ है कि जो लोग बिना किसी पूर्वसूचना के अ-तिथि रूप में आते हैं उनको अपने भोजन में संविभागी बनाना चाहिए।)

३३१. आहार, औषध, शास्त्र और अभय के रूप में दान चार प्रकार का कहा गया है। उपासकाध्ययन में अर्थात् श्रावकाचार में उसे देने योग्य कहा गया है।

३३२. भोजनमात्र का दान करने में भी गृहस्थ धन्य होता है। इसमें पात्र और अपात्र का विचार करने से क्या लाभ?

३३३. साहूणं कप्पणिज्ज, जं न वि दिण्णं कहि पि किंचि तहिं ।
धीरा जहुत्तकारी, सुसावया तं न भुंजंति ।।३३।।
साधूना कल्पनीय, यद् नापि दत्त कुत्रापि किंचित् तत्र ।
धीरा यथोक्तकारिण , सुश्रावका तद् न भुञ्जते ।।३३।।

३३४. जो मुणिभुत्तविसेसं, भुंजइ सो भुंजए जिणुवदिट्ठ ।
संसारसारसोक्खं, कमसो णिव्वाणवरसोक्ख ।।३४।।
यो मुनिभुक्तविशेप, भुङ्क्ते स भुङ्क्ते जिनोपदिष्टम् ।
सम्सारसारसौख्य, क्रमशो निर्वाणवरसौख्यम् ।।३४।।

३३५. जं कीरइ परिरक्खा, णिच्चं मरण-भयभीरु-जीवाणं ।
तं जाण अभयदाणं, सिहामणिं सव्वदाणाणं ।।३५।।
यत् क्रियते परिरक्षा, नित्य मरणभयभीरुजीवानाम् ।
तद् जानीहि अभयदानम् , शिखामणि सर्वदानानाम् ।।३५।।

२४. श्रमणधर्मसूत्र

(अ) समता

३३६. समणो त्ति संजदो त्ति य, रिसि मुणि साधु त्ति वीदरागो त्ति ।
णामाणि सुविहिदाणं, अणगार भदंत दंतो त्ति ।।१।।
श्रमण इति सयत इति च, ऋपिर्मुनि साधु इति वीतराग इति ।
नामानि सुविहितानाम् , अनगारो भदन्त दान्त. इति ।।१।।

३३७. सीह-गय-वसह-मिय-पसु, मारुद-सूरुवहि-मंदरिंदु-मणी ।
खिदि-उरगंवरसरिसा, परम-पय-विमग्गया साहू ।।२।।
सिंह-गज-वृपभ-मृग-पशु, मारुत-सूर्योदधि-मन्दरेन्दु-मणय. ।
क्षिति-उरगाम्बरसदृशा , परमपद-विमार्गका साधव ।।२।।

३३८. वहवे इमे असाहू, लोए वुच्चंति साहुणो ।
न लवे असाहुं साहु त्ति, साहुं साहु त्ति आलवे ।।३।।
वहव इमे असाधव , लोके उच्यन्ते साधव. ।
न लपेदसाधु साधु इति साधु साधु इति आलपेत् ।।३।।

३३३ जिस घर मे साधुओ को कल्पनीय (उनके अनुकूल) किंचित् भी दान नही दिया जाता, उस घर मे शास्त्रोक्त आचरण करनेवाले धीर और त्यागी सुश्रावक भोजन नही करते ।

३३४. जो गृहस्थ मुनि को भोजन कराने के पश्चात् बचा हुआ भोजन करता है, वास्तव मे उसीका भोजन करना सार्थक है । वह जिनोपदिष्ट ससार का सारभूत सुख तथा क्रमश मोक्ष का उत्तम सुख प्राप्त करता है ।

३३५ मृत्यु-भय से भयभीत जीवो की रक्षा करना ही अभय-दान है । यह अभय-दान सब दानो का शिरोमणि है ।

२४. श्रमणधर्मसूत्र

(अ) समता

३३६. श्रमण, सयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, ये सब शास्त्र-विहित आचरण करनेवालो के नाम है ।

३३७. सिह के समान पराक्रमी, हाथी के समान स्वाभिमानी, वृषभ के समान भद्र, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह, वायु के समान निस्सग, सूर्य के समान तेजस्वी, सागर के समान गम्भीर, मेरु के समान निश्चल, चन्द्रमा के समान शीतल, मणि के समान कातिमान, पृथ्वी के समान सहिष्णु, सर्प के समान अनियत-आश्रयी तथा आकाश के समान निरवलम्ब साधु, परमपद मोक्ष की खोज म रहते ह ।

३३८. (परन्तु) ऐसे भी बहुत से असाधु है जिन्हे ससार मे साधु कहा जाता है । (लेकिन) असाधु को साधु नही कहना चाहिए, साधु को ही साधु कहना चाहिए ।

३३९. नाणदंसणसंपण्णं, संजमे य तवे रयं।
एवंगुणसमाउत्तं, संजयं साहुमालवे ॥४॥
ज्ञानदर्शनसम्पन्न, सयमे च तपसि रतम्।
एवगुणसमायुक्त, सयत साधुमालपेत् ॥४॥

३४०. न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥५॥
नाऽपि मुण्डितेन श्रमण, न ओकारेण ब्राह्मण.।
न मुनिररण्यवासेन, कुशचीरेण न तापस ॥५॥

३४१. समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥६॥
समतया श्रमणो भवति, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मण।
ज्ञानेन च मुनिर्भवति, तपसा भवति तापस. ॥६॥

३४२. गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥७॥
गुणै.साधुरगुणैरसाधु, गृहाण साधुगुणान् मुञ्चाऽसाधु (गुणान्।
विजानीयात् आत्मानमात्मना, य रागद्वेपयो. सम स पूज्यः ॥७॥

३४३. देहादिसु अणुरत्ता, विसयासत्ता कसायसंजुत्ता।
अप्पसहावे सुत्ता, ते साहू सम्मपरिचत्ता ॥८॥
देहादिपु अनुरक्ता, विपयासक्ता कपायसयुक्ता।
आत्मस्वभावे सुप्ता, ते साधव. सम्यक्त्वपरित्यक्ता ॥८॥

३४४. वहुं सुणेइ कण्णेहिं, वहुं अच्छीहिं पेच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥९॥
वहु शृणोति कर्णाभ्या,' वहु अक्षिभ्या प्रेक्षते।
न च दृप्ट श्रुत सर्व, भिक्षुराख्यातुमर्हति ॥९॥

३४५. सज्झायज्झाणजुत्ता, रत्ति ण सुयंति ते पयामं तु।
सुत्तत्थं चिंतंता, णिद्दाय वसं ण गच्छंति ॥१०॥
स्वाध्यायध्यानयुक्ता, रात्रौ न स्वपन्ति ते प्रकाम तु।
सूत्रार्थं चिन्तयन्तो, निद्राया वश न गच्छन्ति ॥१०॥

३३९. ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न सयम और तप मे लीन तथा इसी प्रकार के गुणो से युक्त सयमी को ही साधु कहना चाहिए ।

३४०. केवल सिर मुँड़ाने से कोई श्रमण नही होता । ओम् का जप करन से कोई ब्राह्मण नही होता, अरण्य मे रहने से कोई मुनि नही होता, कुश-चीवर पहनने से कोई तपस्वी नहीं होता ।

३४१ (प्रत्युत) वह समता से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, ज्ञान स मुनि होता है और तप से तपस्वी होता है ।

३४२. (कोई भी) गुणो से साधु होता है और अगुणों से असाधु । अत. साधु के गुणो को ग्रहण करो और असाधुता का त्याग करो । आत्मा को आत्मा के द्वारा जानते हुए जो राग-द्वेष मे समभाव रखता है, वही पूज्य है ।

३४३. देहादि मे अनुरक्त, विषयासक्त, कषायसंयुक्त तथा आत्मस्वभाव से सुप्त साधु सम्यक्त्व से शून्य होते है ।

३४४. गोचरी अर्थात् भिक्षा के लिए निकला हुआ साधु कानो से वहुत-सी अच्छी-बुरी बाते सुनता है और आँखो से वहुत-सी अच्छी-बुरी वस्तुएँ देखता है, किन्तु सब-कुछ देख-सुनकर भी वह किसी से कुछ कहता नही है । अर्थात् उदासीन रहता है ।

३४५. स्वाध्याय और ध्यान मे लीन साधु रात मे वहुत नही सोते है । सूत्र और अर्थ का चिन्तन करते रहने के कारण वे निद्रा के वश नही होते ।

३४६. निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ ॥११॥
निर्ममो निरहंकार, निःसंगस्त्यक्तगौरवः।
समश्च सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च ॥११॥

३४७. लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दापसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥१२॥
लाभालाभे सुखे दुःखे, जीविते मरणे तथा।
समो निन्दाप्रशंसयोः, तथा मानापमानयोः ॥१२॥

३४८. गारवेसु कसाएसु, दंडसल्लभएसु य।
नियत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अबन्धणो ॥१३॥
गौरवेभ्यः कषायेभ्यः, दण्डशल्यभयेभ्यश्च।
निवृत्तो हासशोकात्, अनिदानो अबन्धनः ॥१३॥

३४९. अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ।
वासीचन्दणकप्पो य, असणे अणसणे तहा ॥१४॥
अनिश्रित इहलोके, परलोकेऽनिश्रितः।
वासीचन्दनकल्पश्च, अशनेऽनशने तथा ॥१४॥

३५०. अप्पसत्थेहिं दारेहिं, सव्वओ पिहियासवो।
अज्झप्पज्झाणजोगेहिं, पसत्थदमसासणे ॥१५॥
अप्रशस्तेभ्यो द्वारेभ्यः, सर्वतः पिहितास्रवः।
अध्यात्मध्यानयोगैः, प्रशस्तदमशासनः ॥१५॥

३५१. खुहं पिवासं दुस्सेज्जं, सीउण्हं अरइं भयं।
अहियासे अव्वहिओ, देहे दुक्खं महाफलं ॥१६॥
क्षुधं पिपासां दुःशय्यां, शीतोष्णं अरतिं भयम्।
अतिसहेत अव्यथितः देहदुःखं महाफलम् ॥१६॥

३५२. अहो निच्चं तवोकम्मं, सव्वबुद्धेहिं वण्णियं।
जाय लज्जासमा वित्ती, एगभत्तं च भोयणं ॥१७॥
अहो नित्यं तपःकर्म, सर्वबुद्धैर्वर्णितम्।
यावल्लज्जासमा वृत्तिः, एकभक्तं च भोजनम् ॥१७॥

३४६. [साधु ममत्वरहित, निरहकारी, निस्सग, गौरव का त्यागी तथा त्रस और स्थावर जीवो के प्रति समदृष्टि रखता है ।

३४७. वह लाभ और अलाभ मे, सुख और दु ख मे, जीवन और मरण मे, निदा और प्रशसा मे तथा मान और अपमान मे समभाव रखता है ।

३४८ वह गौरव, कषाय, दण्ड, शल्य, भय, हास्य और शोक से निवृत्त तथा निदान और बन्धन से रहित होता है ।

३४९. वह इस लोक व परलोक मे अनासक्त, वसूले से छीलने या चन्दन का लेप करने पर तथा आहार के मिलने या न मिलने पर भी सम रहता है--हर्ष-विषाद नही करता ।

३५०. ऐसा श्रमण अप्रशस्त द्वारो (हेतुओ) से आनेवाले आस्रवो का सर्वतोभावेन निरोध कर अध्यात्म-सम्बन्धी ध्यान-योगो से प्रशस्त सयम-शासन मे लीन हो जाता है ।

३५१. भूख, प्यास, दु शय्या (ऊँची-नीची पथरीली भूमि) ठढ, गर्मी, अरति, भय आदि को बिना दु खी हुए सहन करना चाहिए । क्योकि दैहिक दु खो को समभावपूर्वक सहन करना महा-फलदायी होता है ।

३५२. अहो, सभी ज्ञानियो ने ऐसे तप-अनुष्ठान का उपदेश किया है जिसमे संयमानुकूल वर्तन के साथ-साथ दिन मे केवल एक बार भोजन विहित है ।

३५३. किं काहदि वणवासो, कायकलेसो विचित्त उववासो ।
अज्झयणमोणपहुदी, समदारहियस्स समणस्स ॥१८॥
किं करिष्यति वनवास , कायक्लेशो विचित्रोपवास ।
अध्ययनमौनप्रभृतय , ममतारहितस्य श्रमणस्य ॥१८॥

३५४. बुद्धे परिनिव्वुडे चरे, गाम गए नगरे व संजए ।
संतिमग्गं च बूहए, समय गोयम ! मा पमायए ॥१९॥
बुद्ध परिनिर्वृतश्चरे , ग्रामे गतो नगरे वा सयत. ।
शान्तिमार्गं च बृहये , समय गौतम ! मा प्रमादी. ॥१९॥

३५५. न हु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए ।
सपइ नेयाउए पहे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥
न खलु जिनोऽद्य दृश्यते, बहुमतो दृश्यते मार्गदर्शित ।
सम्प्रति नैयायिके पथि, समय गौतम ! मा प्रमादी ॥२०॥

(आ) वेश-लिंग

३५६. वेसो वि अप्पमाणो, असंजमपएसु वट्टमाणस्स ।
किं परियत्तियवेसं, विसं न मारेइ खज्जंतं ॥२१॥
वेषोऽपि अप्रमाण , असयमपदेषु वर्तमानस्य ।
किं परिवर्तितवेष, विष न मारयति खादन्तम् ॥२१॥

३५७. पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं ।
जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगपओयणं ॥२२॥
प्रत्ययार्थं च लोकस्य, नानाविधविकल्पनम् ।
यात्रार्थं ग्रहणार्थं च, लोके लिङ्गप्रयोजनम् ॥२२॥

३५८. पासंडीलिंगाणि व, गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि ।
घित्तुं वदंति मूढा, लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ॥२३॥
पाषण्डिलिङ्गानि वा, गृहिलिङ्गानि वा बहुप्रकाराणि ।
गृहीत्वा वदन्ति मूढा, लिङ्गमिद मोक्षमार्ग इति ॥२३॥

३५९. पुल्लेव मुट्ठी जह से असारे, अयन्तिए कूडकहावणे वा ।
राढामणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ य जाणएसु ॥२४॥
शुषिरा इव मुष्टिर्यथा स असार, अयन्त्रित. कूटकार्षापणो वा ।
राढामणिर्वैडूर्यप्रकाश , अमहार्घको भवति च ज्ञायकेषु ज्ञेषु ॥२४॥

३५३ समतारहित श्रमण का वनवास, कायक्लेश, विविध उपवास, अध्ययन और मौन व्यर्थ है ।

३५४. प्रबुद्ध और उपशान्त होकर सयतभाव से ग्राम और नगर मे विचरण कर । शान्ति का मार्ग बढा । हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद मत कर ।

३५५ भविष्य मे लोग कहेगे, आज 'जिन' दिखाई नही देते और जो मार्गदर्शक है वे भी एकमत के नही है । किन्तु आज तुझे न्याय-पूर्ण मार्ग उपलब्ध है । अत गौतम ! एक क्षणमात्र भी प्रमाद मत कर ।

(आ) वेश या लिग

३५६. (सयममार्ग में) वेश प्रमाण नही है, क्योकि वह असयत लोगो मे भी पाया जाता है । क्या वेश वदलनेवाले व्यक्ति को खाया हुआ विप नही मारता ?

३५७. (फिर भी) लोक-प्रतीति के लिए नाना तरह के उपकरणो की, वेश आदि की परिकल्पना की गयी है । सयम-यात्रा के निर्वाह के लिए और 'मै साधु हूँ' इसका वोध रहने के लिए ही लोक मे लिंग का प्रयोजन है ।

३५८. लोक मे साधुओ तथा गृहस्थो के तरह-तरह के लिग प्रचलित है जिन्हे धारण करके मूढजन ऐसा कहते है कि अमुक लिग (चिह्न) मोक्ष का कारण है ।

३५९. जो पोली मुट्ठी की तरह निस्सार है, खोटे सिक्के की तरह अप्रमाणित है, वैडूर्य की तरह चमकनेवाली काचमणि है उसका जानकारो की दृष्टि मे कोई मूल्य नही ।

३६०. भावो हि पढमलिंगं, ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं ।
भावो कारणभूदो, गुणदोसाणं जिणा विंति ॥२५॥
भावो हि प्रथमलिङ्ग, न द्रव्यलिङ्ग च जानीहि परमार्थम् ।
भाव कारणभूत, गुणदोपाणा जिना ब्रुवन्ति ॥२५॥

३६१. भावविसुद्धिणिमित्तं, बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
बाहिरचाओ विहलो, अब्भंतरगंथजुत्तस्स ॥२६॥
भावविशुद्धिनिमित्त, बाह्यग्रन्थस्य क्रियते त्याग ।
बाह्यत्याग विफल, अभ्यन्तरग्रन्थयुक्तस्य ॥२६॥

३६२. परिणामम्मि असुद्धे, गंथे मुंचेइ बाहिरे य जई ।
बाहिरगंथच्चाओ, भावविहूणस्स किं कुणइ ? ॥२७॥
परिणामे अशुद्धे, ग्रन्थान् मुञ्चति बाह्यान् च यति. ।
बाह्यग्रन्थत्याग, भावविहीनस्य किं करोति ? ॥२७॥

३६३. देहादिसंगरहिओ, माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ, स भावलिंगी हवे साहू ॥२८॥
देहादिसगरहित, मानकपायै सकलपरित्यक्त ।
आत्मा आत्मनि रत, स भावलिङ्गी भवेत् साधु. ॥२८॥

२५. व्रतसूत्र

३६४. अहिंसा सच्चं च अतेणगं च, तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च ।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ ॥१॥
अहिंसा सत्य चास्तेनक च, ततश्चाब्रह्मापरिग्रह च ।
प्रतिपद्य पञ्चमहाव्रतानि, चरति धर्मं जिनदेशित विद ॥१॥

३६५. णिस्सल्लस्सेव पुणो, महव्वदाइं हवंति सव्वाइं ।
वदमुवहम्मदि तीहिं दु, णिदाणमिच्छत्तमायाहिं ॥२॥
नि शल्यस्यैव पुन., महाव्रतानि भवन्ति सर्वाणि ।
व्रतमुपहन्यते तिसृभिस्तु, निदान-मिथ्यात्व-मायाभि ॥२॥

३६०. (वास्तव में) भाव ही प्रथम या मुख्य लिंग है। द्रव्य लिंग परमार्थ नहीं है, क्योंकि भाव को ही जिनदेव गुण-दोषों का कारण कहते हैं।

३६१. भावों की विशुद्धि के लिए ही बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है। जिसके भीतर परिग्रह की वासना है उसका बाह्य त्याग निष्फल है।

३६२. अशुद्ध परिणामों के रहते हुए भी यदि बाह्य परिग्रह का त्याग करता है तो आत्म-भावना से शून्य उसका बाह्य त्याग क्या हित कर सकता है?

३६३. जो देह आदि की ममता से रहित है, मान आदि कषायों से पूरी तरह मुक्त है तथा जो अपनी आत्मा में ही लीन है, वही साधु भावलिंगी है।

२५. व्रतसूत्र

३६४. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों को स्वीकार करके विद्वान् मुनि जिनोपदिष्ट धर्म का आचरण करे।

३६५. निःशल्य व्रती के ही ये सब महाव्रत होते हैं। क्योंकि निदान, मिथ्यात्व और माया—इन तीन शल्यों से व्रतों का घात होता है।

३६६. अगणिअ जो मुक्खसुहं, कुणइ निआणं असारसुहहेउं ।
सो कायमणिकएणं, वेरुलियमणिं पणासेइ ॥३॥
अगणयित्वा यो मोक्षसुख, करोति निदानमसारसुखहेतो ।
स काचमणिकृते, वैडूर्यमणिं प्रणाशयति ॥३॥

३६७. कुलजोणिजीवमग्गण-ठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं ।
तस्सारंभणियत्तण, परिणामो होइ पढमवदं ॥४॥
कुलयोनिजीवमार्गणा-स्थानादिपु ज्ञात्वा जीवानाम् ।
तस्यारम्भनिवर्तनपरिणामो भवति प्रथमव्रतम् ॥४॥

३६८. सव्वेसिमासमाणं, हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं ।
सव्वेसिं वदगुणाणं, पिंडो सारो अहिंसा हु ॥५॥
सर्वेपामाश्रमाणा, हृदय गर्भो वा सर्वशास्त्राणाम् ।
सर्वेपा व्रतगुणाना, पिण्ड सार अहिंसा हि ॥५॥

३६९. अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥६॥
आत्मार्थं परार्थं वा, क्रोधाद्वा यदि वा भयात् ।
हिंसक न मृषा ब्रूयात्, नाप्यन्य वदापयेत् ॥६॥

३७०. गामे वा णयरे वा, रण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं ।
जो मुंचदि गहणभावं, तिदियवदं होदि तस्सेव ॥७॥
ग्रामे वा नगरे वा-ऽरण्ये वा प्रेक्षित्वा परमार्थम् ।
यो मुञ्चति ग्रहणभाव, तृतीयव्रत भवति तस्यैव ॥७॥

३७१. चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमेत्तं पि, ओग्गहंसि अजाइया ॥८॥
चित्तवदचित्तवद्वा, अल्पं वा यदि वा बहु (मूल्यत) ।
दन्तशोधनमात्रमपि, अवग्रहे अयाचित्वा (न गृह्णन्ति) ॥८॥

३७२. अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मियं भूमिं परक्कमे ॥९॥
अतिभूमिं न गच्छेद्, गोचराग्रगतो मुनि ।
कुलस्य भूमिं ज्ञात्वा, मिता भूमिं पराक्रमेत् ॥९॥

३६६. जो व्रती मोक्ष-सुख की उपेक्षा या अवगणन करके (परभव में) असार सुख की प्राप्ति के लिए निदान या अभिलाषा करता है वह कांच के टुकड़े के लिए वैडूर्यमणि को गँवाता है।

३६७ कुल, योनि, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि मे जीवो को जानकर उनसे सम्बन्धित आरम्भ से निवृत्तिरूप (आभ्यन्तर) परिणाम प्रथम अहिंसाव्रत है।

३६८. अहिंसा सब आश्रमो का हृदय, सब शास्त्रो का रहस्य तथा सब व्रतो और गुणो का पिण्डभूत सार है।

३६९. स्वय अपने लिए या दूसरो के लिए क्रोधादि या भय आदि के वश होकर हिंसात्मक असत्यवचन न तो स्वयं बोलना चाहिए और न दूसरो से बुलवाना चाहिए। यह दूसरा सत्यव्रत है।

३७०. ग्राम, नगर अथवा अरण्य मे दूसरे की वस्तु को देखकर उसे ग्रहण करने का भाव त्याग देनेवाले साधु के तीसरा अचौर्य-व्रत होता है।

३७१. सचेतन अथवा अचेतन, अल्प अथवा बहुत, यहाँ तक कि दाँत साफ करने की सीक तक भी साधु बिना दिये ग्रहण नही करते।

३७२. गोचरी के लिए जानेवाले मुनि को वर्जित भूमि मे प्रवेश नही करना चाहिए। कुल की भूमि को जानकर मितभूमि तक ही जाना चाहिए।

३७३. मूलमेअमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गिं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१०॥
मूलम् एतद् अधर्मस्य, महादोषसमुच्छ्रयम् ।
तस्मात् मैथुनसंसर्गं, निर्ग्रन्था वर्जयन्ति णम् ॥१०॥

३७४. मादुसुदाभगिणी विय, दट्ठूणित्थित्तियं य पडिरूवं ।
इत्थिकहादिणियत्ती, तिलोयपुज्जं हवे बंभं ॥११॥
मातृसुताभगिनीमिव च, दृष्ट्वा स्त्रीत्रिक च प्रतिरूपम् ।
स्त्रीकथादिनिवृत्ति-स्त्रिलोकपूज्य भवेद् ब्रह्म ॥११॥

३७५. सव्वेसिं गंथाणं, तागो णिरवेक्खभावणापुव्वं ।
पंचमवदमिदि भणिदं, चारित्तभरं वहंतस्स ॥१२॥
सर्वेषां ग्रन्थानां, त्यागो निरपेक्षभावनापूर्व्वम् ।
पंचमव्रतमिति भणित, चारित्रभर वहत ॥१२॥

३७६. किं किंचणत्ति तक्कं, अपुणब्भवकामिणोध देहे वि ।
संग त्ति जिणवरिंदा, णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ॥१३॥
किं किंचनमिति तर्क, अपुनर्भवकामिनोऽथ देहेऽपि ।
सग इति जिनवरेन्द्रा, निष्प्रतिकर्मत्वमुद्दिष्टवन्त ॥१३॥

३७७. अप्पडिकुट्ठं उवधिं, अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं ।
मुच्छादिजणणरहिदं, गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ॥१४॥
अप्रतिक्रुष्टमुपधि-मप्रार्थनीयमसंयतजनैः ।
मूर्च्छादिजननरहित, गृह्णातु श्रमणो यद्यप्यल्पम् ॥१४॥

३७८. आहारे व विहारे, देसं कालं समं खमं उवधिं ।
जाणित्ता ते समणो, वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥१५॥
आहारे वा विहारे, देश काल श्रम क्षमम् उपधिम् ।
ज्ञात्वा तान् श्रमण, वर्तते यदि अल्पलेपी स ॥१५॥

३७९. न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥१६॥
न स परिग्रह उक्तो, ज्ञातपुत्रेण तायिना ।
मूर्च्छा परिग्रह उक्त, इति उक्त महर्षिणा ॥१६॥

३७३. मैथुन-संसर्ग अधर्म का मूल है, महान् दोषो का समूह है। इसलिए ब्रह्मचर्य-व्रती निर्ग्रन्थ साधु मैथुन-सेवन का सर्वथा त्याग करते हैं।

३७४. वृद्धा, बालिका और युवती स्त्री के इन तीन प्रतिरूपो को देखकर उन्हे माता, पुत्री और बहन के समान मानना तथा स्त्री-कथा से निवृत्त होना ब्रह्मचर्य-व्रत है। यह ब्रह्मचर्य तीनो लोको मे पूज्य है।

३७५. निरपेक्षभावनापूर्वक चारित्र का भारवहन करनेवाले साधु का बाह्याभ्यन्तर, सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना, पाँचवाँ परिग्रह-त्याग नामक महाव्रत कहा जाता है।

३७६. जब भगवान् अरहंतदेव ने मोक्षाभिलाषी को 'शरीर भी परिग्रह है' कहकर देह की उपेक्षा करने का उपदेश दिया है, तब अन्य परिग्रह की तो बात ही क्या है।

३७७. (फिर भी) जो अनिवार्य है, असयमी जनो द्वारा अप्रार्थनीय है, ममत्व आदि पैदा करनेवाली नही है ऐसी वस्तु ही साधु के लिए उपादेय है। इससे विपरीत अल्पतम परिग्रह भी उसके लिए ग्राह्य नही है।

३७८ आहार अथवा विहार मे देश, काल, श्रम, अपनी सामर्थ्य तथा उपाधि को जानकर श्रमण यदि बरतता है तो वह अल्पलेपी होता है, अर्थात् उसे अल्प ही बन्ध होता है।

३७९. भगवान् महावीर ने (वस्तुगत) परिग्रह को परिग्रह नही कहा है। उन महर्षि ने मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है।

३८०. सन्निहिं च न कुव्वेज्जा, लेवमायाए संजए।
पक्खी पत्तं समादाय, निरवेक्खो परिव्वए ॥१७॥
सन्निधि च न कुर्वीत, लेपमात्रया' सयत'।
पक्षी पत्र समादाय, निरपेक्ष परिव्रजेत् ॥१७॥

३८१. संथारसेज्जासणभत्तपाणे, अप्पिच्छया अइलाभे वि संते।
एवप्पमपाणभितोसएज्जा, संतोसपाहन्नरए स पुज्जो ॥१८॥
सस्तारकशय्यासनभक्तपानानि, अल्पेच्छता अतिलाभेऽपि सति।
एवमात्मानमभितोपयति, सन्तोपप्राधान्यरत स पूज्य' ॥१८॥

३८२. अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्था अ अणुग्गए।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि ण पत्थए ॥१९॥
अस्तगते आदित्ये, पुरस्ताच्चानुद्गते।
आहारमादिक सर्व, मनसापि न प्रार्थयेत् ॥१९॥

३८३. संतिमे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे? ॥२०॥
सन्ति इमे सूक्ष्मा प्राणिन, त्रसा अथवा स्थावरा।
यान् रात्रावपश्यन्, कथम् एपणीय चरेत्? ॥२०॥

२६. समिति-गुप्तिसूत्र

(अ) अप्ट प्रवचन-माता

३८४. इरियाभासेसणाऽऽदाणे, उच्चारे समिई इय।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥१॥
ईर्याभाषैपणाऽऽदाने-उच्चारे समितय इति।
मनोगुप्तिर्वचोगुप्ति, कायगुप्तिश्चाप्टमी ॥१॥

३८५. एदाओ अट्ठ पवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं।
रक्खंति सदा मुणिणो, मादा पुत्तं व पयदाओ ॥२॥
एता अप्ट प्रवचन-मातर ज्ञानदर्शनचारित्राणि।
रक्षन्ति सदा मुनीन्, मातर पुत्रमिव प्रयता ॥२॥

३८०. साधु लशमात्र भी सग्रह न करे। पक्षी की तरह सग्रह से निरपेक्ष रहते हुए केवल सयमोपकरण के साथ विचरण करे।

३८१ संस्तारक, शय्या, आसन और आहार का अतिलाभ होने पर भी जो अल्प इच्छा रखते हुए अल्प से अपने को सतुष्ट रखता है, अधिक ग्रहण नही करता, वह सतोष में ही प्रधान रूप से अनुरक्त रहनेवाला साधु पूज्य है।

३८२ सम्पूर्ण परिग्रह से रहित, समरसी साधु को सूर्यास्त के पश्चात् और सूर्योदय के पूर्व किसी भी प्रकार के आहार आदि की इच्छा मन मे नही लानी चाहिए।

३८३. इस धरती पर ऐसे त्रस और स्थावर सूक्ष्म जीव सदैव व्याप्त रहते है जो रात्रि के अन्धकार मे दीख नही पडते। अत ऐसे समय मे साधु के द्वारा आहार की शुद्ध गवेषणा कैसे हो सकती है?

२६. समिति-गुप्तिसूत्र

(अ) अष्ट प्रवचनमाता

३८४. ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उत्सर्ग—ये पाँच समितियाँ है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—ये तीन गुप्तियाँ हैं।

३८५. ये आठ प्रवचनमाताएँ है। जैसे सावधान माता पुत्र का रक्षण करती है, वैसे ही सावधानीपूर्वक पालन की गयी ये आठो माताएँ मुनि के सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का रक्षण करती है।

३८६. एयाओ पंच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥३॥
एता पञ्च समितय, चरणस्य च प्रवर्तने।
गुप्तयो निवर्तने उक्ता, अशुभार्थेभ्य सर्वश ॥३॥

३८७. जह गुत्तस्सिरियाई, न होंति दोसा तहेव समियस्स।
गुत्तीट्ठिय प्पमायं, रुंभइ समिई सचेट्ठस्स ॥४॥
यथा गुप्तस्य ईर्यादि (जन्या) न भवन्ति दोषा, तथैव समितस्य।
गुप्तिस्थितो प्रमाद, रुणद्धि समिति (स्थित) सचेष्टस्य ॥४॥

३८८. मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो, हिंसामेत्तेण समिदीसु ॥५॥
म्रियता वा जीवतु वा जीव -अयताचारस्य निश्चिता हिंसा।
प्रयतस्य नास्ति बन्धो, हिंसामात्रेण समितिषु ॥५॥

३८९–३९०. आहच्च हिंसा समितस्स जा तू, सा दव्वतो होति ण भावतो उ।
भावेण हिंसा तु असंजतस्सा, जे वा वि सत्ते ण सदा वधेति ॥६॥
संपत्ति तस्सेव जदा भविज्जा, सा दव्वहिंसा खलु भावतो य।
अज्झत्थसुद्धस्स जदा ण होज्जा, वधेण जोगो दुहतो वऽहिंसा ॥७॥
आहत्य हिंसा समितस्य या तु, सा द्रव्यतो भवति न भावत तु।
भावेन हिंसा तु असयतस्य, यान् वा अपि सत्त्वान् न सदा हन्ति॥६॥
सम्प्राप्तिर्तस्यैव यदा भवति, सा द्रव्यहिंसा खलु भावतो च।
अध्यात्मशुद्धस्य यदा न भवति, वधेन योग द्विधाऽपि च अहिंसा ॥७॥

३९१–३९२. उच्चालियम्मि पाए, इरियासमियस्स णिग्गमणट्ठाए।
आवाधेज्ज कुलिंगी, मरिज्ज तं जोगमासज्ज ॥८॥
ण हि तग्घादणिमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए।
मुच्छा परिग्गहो त्ति य, अज्झप्प पमाणदो भणिदो ॥९॥

३८६. ये पाँच समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए हैं। और तीन गुप्तियाँ सभी अशुभ विषयो से निवृत्ति के लिए हैं।

३८७. जैसे गुप्ति का पालन करनेवाले को अनुचित गमनागमन-मूलक दोष नही लगते, वैसे ही समिति का पालन करनवाले को भी नही लगते। इसका कारण यह है कि मुनि जव मनो-गुप्ति आदि मे स्थित होता है तव वह अगुप्तिमूलक प्रमाद को रोकता है, जो दोपो का कारण है। जव वह समिति मे स्थित होता है, तव चेष्टा करते समय होनेवाले प्रमाद को रोकता है।

३८८. जीव मर या जीये, अयतनाचारी को हिसा का दोष अवश्य लगता है। किन्तु जो समितियो मे प्रयत्नशील है उससे वाह्य हिसा हो जाने पर भी उसे कर्मवन्ध नही होता।

३८९-३९०. इसका कारण यह है कि समिति का पालन करते हुए साधु से जो आकस्मिक हिंसा हो जाती है, वह केवल द्रव्य-हिंसा होती है, भावहिंसा नही। भावहिसा तो उनसे होती है जो असयमी या अयतनाचारी होते हैं—ये जिन जीवो को कभी मारते नही, उनकी हिसा का दोष भी इन्हे लगता है।

किसी प्राणी का घात हो जाने पर जैसे अयतनाचारी सयत या असयत व्यक्ति को द्रव्य तथा भाव दोनो प्रकार की हिंसा का दोष लगता है, वैसे ही चित्त-शुद्धि से युक्त समितिपरायण साधु द्वारा (मन पूर्वक) किसीका घात न होने के कारण उसके द्रव्य तथा भाव दोनो प्रकार की अहिंसा होती है।

३९१-३९२. ईर्या-समितिपूर्वक चलनेवाले साधु के पैर के नीचे अचानक कोई छोटा-सा जीव आ जावे और कुचलकर मर जाये तो आगम कहता है कि इससे साधु को सूक्ष्म मात्र भी वन्ध नहीं होता।

उच्चालिते पादे, ईर्यासमितस्य निर्गमनार्थाय ।
अवाधे कुलिङ्गी, म्रियेत त योगमासाद्य ॥८॥
न हि तद्घातनिमित्तो, वन्धो सूक्ष्मोऽपि देशित समये ।
मूर्च्छा परिग्रहो इति च, अध्यात्मप्रमाणतो भणित ॥९॥

३९३. पउमिणिपत्तं व जहा, उदयेण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्त ।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ, साधु काएसु इरियंतो ॥१०॥
पद्मिनीपत्र वा यथा, उदकेन न लिप्यते स्नेहगुणयुक्तम् ।
तथा समितिभिर्न लिप्यते, साधु कायेपु ईर्यन् ॥१०॥

३९४. जयणा उ धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव ।
तव्वुड्ढीकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा ॥११॥
यतना तु धर्मजननी, यतना धर्मस्य पालनी चैव ।
तद्वृद्धिकरी यतना, एकान्तसुखावहा यतना ॥११॥

३९५. जयं चरे जयं चिट्ठे ,जयमासे जय सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥१२॥
यत चरेत् यत तिष्ठेत् , यतमासीत यत शयीत ।
यत भुञ्जान भापमाण , पाप कर्म न वध्नाति ॥१२॥

(आ) समिति

३९६. फासुयमग्गेण दिवा, जुगंतरप्पेहिणा सकज्जेण ।
जंतुण परिहरंते-णिरियासमिदी हवे गमण ॥१३॥
प्रासुकमार्गेण दिवा, युगान्तरप्रेक्षिणा सकार्येण ।
जन्तून् परिहरता, ईर्यासमिति भवेद् गमनम् ॥१३॥

३९७. इन्दियत्थे विवज्जित्ता, सज्झायं चेव पंचहा ।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्ते इरियं रिए ॥१४॥
इन्द्रियार्थान् विवर्ज्य, स्वाध्याय चैव पञ्चधा ।
तन्मूर्ति (सन्) तत्पुरस्कार , उपयुक्त ईर्या रीयेत ॥१४॥

३९८. तहेवुच्चावया पाणा, भत्तट्ठाए समागया ।
तं उज्जुअं न गच्छिज्जा, जयमेव परक्कमे ॥१५॥
तथैवुच्चावचा· प्राणिन., भक्तार्थं समागता ।
तदृजुकं न गच्छेत् , यतमेव पराक्रामेत् ॥१५॥

जैसे अध्यात्म (शास्त्र) मे मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा गया है, वैसे ही उसमे प्रमाद को हिंसा कहा गया है।

३९३. जैसे स्नेहगुण से युक्त कमलिनी का पत्र जल से लिप्त नही होता, वैसे ही समितिपूर्वक जीवो के बीच विचरण करनेवाला साधु पाप (कर्मबन्ध) से लिप्त नही होता।

३९४. यत्नाचारिता धर्म की जननी है। यत्नाचारिता धर्म की पालनहार है। यत्नाचारिता धर्म को बढ़ाती है। यत्नाचारिता एकान्त सुखावह है।

३९५. यत्नाचार (विवेक या उपयोग) पूर्वक चलने, यत्नाचारपूर्वक रहने, यत्नाचारपूर्वक बैठने, यत्नाचारपूर्वक सोने, यत्नाचारपूर्वक खाने और यत्नाचारपूर्वक बोलने से साधु को पाप-कर्म का बध नही होता।

(आ) समिति

३९६. कार्यवश दिन मे प्रासुकमार्ग से (जिन मार्ग पर पहले से आवागमन शुरू हो चुका हो), चार हाथ भूमि को आगे देखते हुए, जीवो की विराधना बचाते हुए गमन करना ईर्या-समिति है।

३९७ इन्द्रियो के विषय तथा पाच प्रकार के स्वाध्याय का कार्य छोडकर केवल गमन-क्रिया मे ही तन्मय हो, उसी को प्रमुख महत्त्व देकर उपयोगपूर्वक (जागृतिपूर्वक) चलना चाहिए।

३९८ गमन करते समय इस बात की भी पूरी सावधानी रखनी चाहिए कि नाना प्रकार के जीव-जन्तु, पशु-पक्षी आदि इधर-उधर से चारे-दाने के लिए मार्ग मे इकट्ठा हो गये हो तो उनके सामने भी नही जाना चाहिए, ताकि वे भयग्रस्त न हो।

३९९. न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं ।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा ॥१६॥
न लपेत् पृष्ट सावद्य, न निरर्थं न मर्मगम् ।
आत्मार्थं परार्थं वा, उभयस्यान्तरेण वा ॥१६॥

४००. तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी ।
सच्चा-वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥१७॥
तथैव परुषा भाषा, गुरुभूतोपघातिनी ।
सत्यापि सा न वक्तव्या, यतो पापस्य आगम ॥१७॥

४०१. तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा ।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥१८॥
तथैव काण काण इति, पण्डक पण्डक इति वा ।
व्याधित वाऽपि रोगी इति, स्तेनं चोर इति नो वदेत् ॥१८॥

४०२. पेसुण्णहासकक्कस - परणिंदाप्पप्पसंसा - विकहादी ।
वज्जित्ता सपरहियं, भासासमिदी हवे कहणं ॥१९॥
पैशुन्यहासकर्कश-परनिन्दाऽऽत्मप्रशंसा-विकथादीन् ।
वर्जयित्वा स्वपरहित, भाषासमिति भवेत् कथनम् ॥१९॥

४०३. दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुण्णं वियंजियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥२०॥
दृष्टा मिताम् असन्दिग्धा, प्रतिपूर्णां व्यक्ताम् ।
अजल्पनशीलां अनुद्विग्ना, भाषा निसृज आत्मवान् ॥२०॥

४०४. दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी, दोवि गच्छंति सोग्गइं ॥२१॥
दुर्लभा तु मुधादायिन , मुधाजीविनोऽपि दुर्लभा ।
मुधादायिन मुधाजीविन , द्वावपि गच्छत सुगतिम् ॥२१॥

३९९ (भाषा-समिति-परायण साधु) किसी के पूछने पर भी अपने लिए, अन्य के लिए अथवा दोनों के लिए न तो सावद्य अर्थात् पाप-वचन बोले, न निरर्थक वचन बोले और न मर्मभेदी वचन का प्रयोग करे।

४००. तथा कठोर और प्राणियों का उपघात करनेवाली, चोट पहुँचानेवाली भाषा भी न बोले। ऐसा सत्य-वचन भी न बोले जिससे पाप का बन्ध होता हो।

४०१. तथा काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, व्याधिग्रस्त को रोगी और चोर को चोर भी न कहे।

४०२. पैशुन्य, हास्य, कर्कश-वचन, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, विकथा (स्त्री, राज आदि की रसवर्धक या विकारवर्धक कथा) का त्याग करके स्व-पर हितकारी वचन बोलना ही भाषा-समिति है।

४०३ आत्मवान् मुनि ऐसी भाषा बोले जो आँखों देखी बात को कहती हो, मित (संक्षिप्त) हो, सन्देहास्पद न हो, स्वर-व्यंजन आदि से पूर्ण हो, व्यक्त हो, बोलने पर भी न बोली गयी जैसी अर्थात् सहज हो और उद्वेगरहित हो।

४०४ मुधादायी—निष्प्रयोजन देनेवाले—दुर्लभ है औरमुधाजीवी—भिक्षा पर जीवन यापन करनेवाले—भी दुर्लभ है। मुधादायी और मुधाजीवी दोनों ही साक्षात् या परम्परा से सुगति या मोक्ष प्राप्त करते है।

४०५. उग्गम-उप्पादण-एसणेहिं, पिंडं च उवधि सज्जं वा ।
सोधंतस्स य मुणिणो, परिसुज्झइ एसणा समिदी ।।२२।।
उद्गमोत्पादनैषणै., पिण्ड च उपधिं शय्या वा ।
शोधयतश्च मुने, परिशुद्धयति एषणा समिति ।।२२।।

४०६. ण बलाउसाउअट्ठं, ण सरीरस्सुवचयट्ठ तेजट्ठं ।
णाणट्ठसंजमट्ठं, झाणट्ठं चेव भुंजेज्जा ।।२३।।
न बलायु.स्वादार्थं, न शरीरस्योपचयार्थं तेजोऽर्थम् ।
ज्ञानार्थं संयमार्थं, ध्यानार्थं चैव भुञ्जीत ।।२३।।

४०७-४०८. जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं ।
ण य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ।।२४।।
एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो ।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणेरया ।।२५।।
यथा द्रुमस्य पुष्पेषु, भ्रमर आपिबति रसम् ।
न च पुष्प क्लामयति, स च प्रीणात्यात्मानम् ।।२४।।
एवमेते श्रमणा मुक्ता, ये लोके सन्ति साधव ।
विहंगमा इव पुष्पेषु, दानभक्तैषणारता ।।२५।।

४०९. आहाकम्म-परिणओ, फासुयभोई वि बंधओ होई ।
सुद्धं गवेसमाणो, आहाकम्मे वि सो सुद्धो ।।२६।।
आधाकर्मपरिणत, प्रासुकभोजी अपि बन्धको भवति ।
शुद्ध गवेषयन्, आधाकर्मण्यपि स शुद्ध ।।२६।।

४१०. चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जेज्ज जयं जई ।
आइए निक्खिवेज्जा वा, दुहओवि समिए सया ।।२७।।
चक्षुषा प्रतिलिख्य, प्रमार्जयेत् यत यति ।
आददीत निक्षिपेद् वा, द्विधाऽपि समित. सदा ।।२७।।

४११. एगंते अच्चित्ते दूरे, गूढे विसालमविरोहे ।
उच्चारादिच्चाओ, पदिठावणिया हवे समिदी ।।२८।।
एकान्ते अचित्ते दूरे, गूढे विशाले अविरोधे ।
उच्चारादित्याग, प्रतिष्ठापनिका भवेत् समिति ।।२८।।

४०५ उद्गम-दोष*, उत्पादन-दोष और अशन-दोषों से रहित भोजन, उपधि और शय्या-वसतिका आदि की शुद्धि करनेवाले मुनि के एषणा-समिति शुद्ध होती है।

४०६. मुनिजन न तो बल या आयु बढ़ाने के लिए आहार करते है, न स्वाद के लिए करते है और न शरीर के उपचय या तेज के लिए करते है। वे ज्ञान, संयम और ध्यान की सिद्धि के लिए ही आहार करते है।

४०७-४०८ जैसे भ्रमर पुष्पों को तनिक भी पीडा पहुँचाये विना रस ग्रहण करता है और अपने को तृप्त करता है, वैसे ही लोक मे विचरण करनेवाले बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित श्रमण दाता को किसी भी प्रकार का कष्ट दिये विना उसके द्वारा दिया गया प्रासुक आहार ग्रहण करते है। यही उनकी एषणा समिति है।

४०९. यदि प्रासुक-भोजी साधु आधाकर्म† से युक्त एव अपने उद्देश्य से बनाया गया भोजन करता है तो वह दोष का भागी हो जाता है। किन्तु यदि वह उद्गमादि दोषो से रहित शुद्ध भोजन की गवेषणा-पूर्वक कदाचित् आधाकर्म से युक्त भोजन भी कर लेता है तो भावों से शुद्ध होने के कारण वह शुद्ध है।

४१० यतना (विवेक-) पूर्वक प्रवृत्ति करनेवाला मुनि अपने दोनों प्रकार के उपकरणों को आँखो से देखकर तथा प्रमार्जन करके उठाये और रखे। यही आदान-निक्षेपण समिति है।

४११ साधु को मल-मूत्र का विसर्जन ऐसे स्थान पर करना चाहिए जहाँ एकान्त हो, हरित् (गीली) वनस्पति तथा त्रस जीवों से रहित हो, गाँव आदि से दूर हो, जहाँ कोई देख न सके, विशाल-विस्तीर्ण हो, कोई विरोध न करता हो। यह प्रतिष्ठा-पना या उत्सर्ग समिति है।

---

* आहार बनाते समय होनेवाले दोषो को उद्गमदोष कहते है। आहार-ग्रहण करने मे होनेवाले दोषो को अशनदोष कहते है। उत्पादनविषयक दोषो को उत्पादन-दोष कहते है।

† अधिक आरम्भ तथा हिंसा द्वारा तैयार किया गया भोजन।

(इ) गुप्ति

४१२. संरम्भसमारम्भे, आरम्भे य तहेव य।
मणं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥२९॥
सरम्भे समारम्भे, आरम्भे च तथैव च।
मन प्रवर्तमान तु, निवर्त्तयेद् यत यति ॥२९॥

४१३. संरम्भसमारम्भे, आरम्भे य तहेव य।
वयं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥३०॥
सरम्भे समारम्भे, आरम्भे च तथव च।
वच प्रवर्तमान तु, निवर्त्तयेद् यत यति ॥३०॥

४१४. संरम्भसमारम्भे, आरम्भम्मि तहेव य।
कायं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥३१॥
सरम्भे समारम्भे, आरम्भे तथैव च।
काय प्रवर्तमान तु, निवर्त्तयेद् यत यति ॥३१॥

४१५. खेत्तस्स वई णयरस्स, खाइया अहव होइ पायारो।
तह पावस्स णिरोहो, ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥३२॥
क्षेत्रस्य वृत्तिर्नगरस्य, खातिकाऽथवा भवति प्राकार.।
तथा पापस्य निरोध, ता. गुप्तय. साधो. ॥३२॥

४१६. एया पवयणमाया, जे सम्मं आयरे मुणी।
से खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥३३॥
एता प्रवचनमातृ, य सम्यगाचरेन्मुनिः।
स क्षिप्र सर्वससारात्, विप्रमुच्यते पण्डित ॥३३॥

२७. आवश्यकसूत्र

४१७. एरिसभेदब्भासे, मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं।
तं दढकरणनिमित्तं, पडिक्कमणादी पवक्खामि ॥१॥
ईदृग्भेदाभ्यासे, मध्यस्थो भवति तेन चारित्रम्।
तद् दृढीकरणनिमित्त, प्रतिक्रमणादीन् प्रवक्ष्यामि ॥१॥

(इ) गुप्ति

४१२. यतनासम्पन्न (जागरूक) यति सरम्भ, समारम्भ व आरम्भ मे प्रवर्त्तमान मन को रोके—उसका गोपन करे ।

४१३ यतनासम्पन्न यति सरम्भ, समारम्भ व आरम्भ मे प्रवर्त्तमान वचन को रोके—उसका गोपन करे ।

४१४. यतनासम्पन्न यति सरम्भ, समारम्भ व आरम्भ मे प्रवर्तमान काया को रोके—उसका गोपन करे ।

४१५. जैसे खेत की वाड और नगर की खाई या प्राकार उनकी रक्षा करते है, वैसे ही पाप-निरोधक गुप्तियाँ साधु के सयम की रक्षक होती है ।

४१६. जो मुनि इन आठ प्रवचन-माताओ का सम्यक् आचरण करता है, वह ज्ञानी शीघ्र ससार से मुक्त हो जाता है ।

२७. आवश्यकसूत्र

४१७ इस प्रकार के भेद-ज्ञान का अभ्यास हो जाने पर जीव माध्यस्थ भावयुक्त हो जाता है और इससे चारित्र होता है । इसीको दृढ करने के लिए प्रतिक्रमण आदि (षडावश्यक क्रियाओ) का कथन करता हूँ ।

४१८. परिचत्ता परभावं, अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं ।
अप्पवसो सो होदि हु, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ।।२।।
परित्यक्त्वा परभाव, आत्मान ध्यायति निर्मलस्वभावम् ।
आत्मवश स भवति खलु, तस्य तु कर्म्म भणन्ति आवश्यकम् ।।२।।

४१९. आवासं जइ इच्छसि, अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं ।
तेण दु सामइयगुणं, संपुण्णं होदि जीवस्स ।।३।।
आवश्यक यदीच्छसि, आत्मस्वभावेपु करोति स्थिरभावम् ।
तेन तु सामायिकगुण, सम्पूर्ण भवति जीवस्य ।।३।।

४२०. आवासएण हीणो, पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो ।
पुव्वुत्तकमेण पुणो, तम्हा आवासयं कुज्जा ।।४।।
आवश्यकेन हीन, प्रभ्रष्टो भवति चरणत श्रमण ।
पूर्वोक्तक्रमेण पुन, तस्मादावश्यक कुर्यात् ।।४।।

४२१. पडिकमणपहुदिकिरियं, कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं ।
तेण दु विरागचरिए, समणो अब्भुट्ठिदो होदि ।।५।।
प्रतिक्रमणप्रभृतिक्रिया, कुर्व्वन् निश्चयस्य चारित्रम् ।
तेन तु विरागचरिते, श्रमणोऽभ्युत्थितो भवति ।।५।।

४२२. वयणमयं पडिकमणं, वयणमयं पच्चखाण णियमं च ।
आलोयण वयणमयं, तं सव्वं जाण सज्झाउ ।।६।।
वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान नियमश्च ।
आलोचन वचनमय, तत्सर्व जानीहि स्वाध्यायम् ।।६।।

४२३. जदि सक्कदि कादुं जे, पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं ।
सत्तिविहीणो जा जइ, सद्दहणं चेव कायव्वं ।।७।।
यदि शक्यते कर्त्तुम्, प्रतिक्रमणादिक कुर्याद् ध्यानमयम् ।
शक्तिविहीनो यावद्यदि, श्रद्धान चैव कर्तव्यम् ।।७।।

४२४. सामाइयं चउवीसत्थओ वंदणयं ।
पडिक्कमणं काउस्सग्गो पच्चक्खाणं ।।८।।
सामायिकम् चतुर्विशतिस्तव. ' वन्दनकम् ।
प्रतिक्रमणम्, ' कायोत्सर्ग' प्रत्याख्यानम् ।।८।।

४१८ पर-भाव का त्याग करके निर्मल-स्वभावी आत्मा का ध्याता आत्मवशी होता है। उसके कर्म को आवश्यक कहा जाता है।

४१९ यदि तू प्रतिक्रमण आदि आवश्यक कर्मों की इच्छा रखता है, तो अपने को आत्मस्वभाव में स्थिर कर। इससे जीव का सामायिक गुण पूर्ण होता है—उसमें समता आती है'

४२० जो श्रमण आवश्यक-कर्म नहीं करता, वह चारित्र से भ्रष्ट है। अत पूर्वोक्त क्रम मे आवश्यक अवश्य करना चाहिए।

४२१ जो निश्चयचारित्रस्वरूप प्रतिक्रमण आदि क्रियाएं करता है, वह श्रमण वीतराग-चारित्र में समुत्थित या आरूढ होता है।

४२२. (परन्तु) वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय नियम और वचनमय आलोचना—ये सब तो केवल स्वाध्याय हैं, (चारित्र नहीं है)।

४२३. (अतएव) यदि करने की शक्ति और सम्भावना हो तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि कर। इस समय यदि शक्ति नहीं है तो उनकी श्रद्धा करना ही कर्तव्य है—श्रेयस्कर है।

४२४. सामायिक, चतुर्विंशति जिन-स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान—ये छह आवश्यक हैं।

४२५. समभावो सामइय, तणकंचण-सत्तुमित्तविसओ त्ति ।
निरभिस्संगं चित्तं, उचियपवित्तिप्पहाणं च ॥९॥
समभावो सामायिक, तृणकाञ्चनशत्रुमित्रविषय इति ।
निरभिष्वङ्ग चित्त, उचितप्रवृत्तिप्रधान च ॥९॥

४२६. वयणोच्चारणकिरिय, परिचत्ता वीयरायभावेण ।
जो झायदि अप्पाण, परमसमाही हवे तस्स ॥१०॥
वचनोच्चारणक्रिया, परित्यक्त्वा वीतरागभावेन ।
यो ध्यायत्यात्मा, परमसमाधिर्भवेत् तस्य ॥१०॥

४२७. विरदो सव्वसावज्जे, तिगुत्तो पिहिदिदिओ ।
तस्स सामाइग ठाई, इदि केवलिसासणे ॥११॥
विरत सर्वसावद्ये, त्रिगुप्त पिहितेन्द्रिय ।
तस्य सामायिक स्थायि, इति केवलिशासने ॥११॥

४२८. जो समो सव्वभूदेसु, थावरेसु तसेसु वा ।
तस्स सामायिगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१२॥
य सम सर्वभूतेषु, स्थावरेषु त्रसेषु वा ।
तस्य सामायिक स्थायि, इति केवलिशासने ॥१२॥

४२९. उसहादिजिणवराणं, णामणिरुत्ति गुणाणुकित्ति च ।
काऊण अच्चिदूण य, तिसुद्धिपरिणामो थवो णेओ ॥१३॥
ऋषभादिजिनवराणा, नामनिरुक्ति गुणानुकीर्ति च ।
कृत्वा अर्चित्वा च, त्रिशुद्धिपरिणाम स्तवो ज्ञेय. ॥१३॥

४३०. दव्वे खेत्ते काले, भावे य कयावराहसोहणयं ।
णिंदणगरहणजुत्तो, मणवचकायेण पडिक्कमणं ॥१४॥
द्रव्ये क्षेत्रे काले, भावे च कृतापराधशोधनकम् ।
निन्दनगर्हणयुक्तो, मनोवच कायेन प्रतिक्रमणम् ॥१४॥

४३१. आलोचणणिंदणगरहणाहिं अब्भुट्ठिओ अकरणाए ।
तं भावपडिक्कमणं, सेसं पुण दव्वदो भणिअं ॥१५॥
आलोचननिन्दनगर्हणाभि अभ्युत्थितश्चाऽकरणाय ।
तद् भावप्रतिक्रमण, शेष पुनर्द्रव्यतो भणितम् ॥१५॥

४२५. तिनके और सोने में, शत्रु और मित्र में समभाव रखना ही सामायिक है। अर्थात् रागद्वेषरूप अभिष्वगरहित (ध्यान या अध्ययनरूप) उचित प्रवृत्तिप्रधान चित्त को सामायिक कहते हैं।

४२६. जो वचन-उच्चारण की क्रिया का परित्याग करके वीतरागभाव से आत्मा का ध्यान करता है, उसके परमसमाधि या सामायिक होती है।

४२७. जो सर्व-सावद्य (आरम्भ) से विरत है, त्रिगुप्तियुक्त है तथा जितेन्द्रिय है, उसके सामायिक स्थायी होती है, ऐसा केवलि-शासन में कहा गया है।

४२८. जो सर्वभूतों (स्थावर व त्रस जीवों) के प्रति समभाव रखता है, उसके सामायिक स्थायी होती है, ऐसा केवलि-शासन में कहा गया है।

४२९ ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों के नामों की निरुक्ति तथा उनके गुणों का कीर्तन करना, गंध-पुष्प-अक्षतादि से पूजा-अर्चा करके, मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक प्रणाम करना चतुर्विंशतिस्तव नामक दूसरा आवश्यक है।

४३० निन्दा तथा गर्हा से युक्त साधु का मन वचन काय के द्वारा, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के व्रताचरण विषयक दोषों या अपराधों की आचार्य के समक्ष आलोचनापूर्वक शुद्धि करना प्रतिक्रमण कहलाता है।

४३१. आलोचना, निन्दा तथा गर्हा के द्वारा प्रतिक्रमण करने में तथा पुन दोष न करने में उद्यत साधु के भाव-प्रतिक्रमण होता है। शेष सब तो (प्रतिक्रमण-पाठ आदि करना) द्रव्य-प्रतिक्रमण है।

४३२. मोत्तूण वयणरयणं, रागादीभाववारण किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि, तस्स दु होदि त्ति पडिकम्मणं ॥१६॥
मुक्त्वा वचनरचना, रागादिभाववारण कृत्वा ।
आत्मान यो ध्यायति, तस्य तु भवतीति प्रतिक्रमणम् ॥१६॥

४३३. झाणणिलीणो साहू, परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु झाणमेव हि, सव्वऽदिचारस्स पडिक्कमणं ॥१७॥
ध्याननिलीन साधु, परित्याग करोति सर्वदोषाणाम् ।
तस्मात् तु ध्यानमेव हि, सर्वातिचारस्य प्रतिक्रमणम् ॥१७॥

४३४ देवस्सियणियमादिसु, जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि ।
जिणगुणचिंतणजुत्तो, काउसग्गो तणुविसग्गो ॥१८॥
दैवसिकनियमादिषु, यथोक्तमानेन उक्तकाले ।
जिनगुणचिन्तनयुक्त, कायोत्सर्गस्तनुविसर्ग ॥१८॥

४३५. जे केइ उवसग्गा, देवमाणुस-तिरिक्खऽचेदणिया ।
ते सव्वे अधिआसे, काउसग्गे ठिदो संतो ॥१९॥
ये केचनोपसर्गा, देवमानुष-तिर्यगचेतनिका ।
तान्सर्वानध्यासे, कायोत्सर्गे स्थित सन् ॥१९॥

४३६. मोत्तूण सयलजप्पम-णागयसुहमसुहवारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि, पच्चक्खाणं हवे तस्स ॥२०॥
मुक्त्वा सकलजल्पम-नागतशुभाशुभनिवारण कृत्वा ।
आत्मान यो ध्यायति, प्रत्याख्यान भवेत् तस्य ॥२०॥

४३७. णियभावं ण वि मुच्चइ, परभावं णेव गेण्हए केइं ।
जाणदि पस्सदि सव्वं, सोऽहं इदि चिंतए णाणी ॥२१॥
निजभाव नापि मुञ्चति, परभाव नैव गृह्णाति कमपि ।
जानाति पश्यति सर्व, सोऽहम् इति चिन्तयेद् ज्ञानी ॥२१॥

४३८. जं किंचि मे दुच्चरितं, सव्वं तिविहेण वोसिरे ।
सामाइयं तु तिविहं, करेमि सव्वं णिरायारं ॥२२॥
यत्किचिन्मे दुश्चरित्र, सर्व त्रिविधेन विसृजामि ।
सामायिक तु त्रिविध, करोमि सर्वं निराकारम् ॥२२॥

४३२. वचन-रचना मात्र को त्यागकर जो साधु रागादि भावों को दूर कर आत्मा को ध्याता है, उसीके (पारमार्थिक) प्रतिक्रमण होता है।

४३३. ध्यान में लीन साधु सब दोषों का परित्याग करता है। इसलिए ध्यान ही समस्त अतिचारों (दोषों) का प्रतिक्रमण है।

४३४ दिन, रात, पक्ष, मास, चतुर्मास आदि में किये जानेवाले प्रतिक्रमण आदि शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार सत्ताईस श्वासोच्छ्वास तक अथवा उपयुक्त काल तक जिनेन्द्रभगवान् के गुणों का चिन्तवन करते हुए शरीर का ममत्व त्याग देना कायोत्सर्ग नामक आवश्यक है।

४३५ कायोत्सर्ग में स्थित साधु देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत तथा अचेतनकृत (प्राकृतिक, आकस्मिक) होनेवाले समस्त उपसर्गों (बाधाओं, आपत्तियों) को समभावपूर्वक सहन करता है।

४३६ समस्त वाचनिक विकल्पों का त्याग करके तथा अनागत शुभाशुभ का निवारण करके जो साधु आत्मा को ध्याता है, उसके प्रत्याख्यान नामक आवश्यक होता है।

४३७. जो निज-भाव को नहीं छोडता और किसी भी पर-भाव को ग्रहण नहीं करता तथा जो सबका ज्ञाता-द्रष्टा है, वह (परम-तत्त्व) 'मैं' ही हूँ। आत्मध्यान में लीन ज्ञानी ऐसा चिन्तन करता है।

४३८ (वह ऐसा भी विचार करता है कि—)जो कुछ भी मेरा दुश्चरित्र है, उस सबको मैं मन वचन कायपूर्वक तजता हूँ और निर्विकल्प होकर त्रिविध सामायिक करता हूं।

२८. तपसूत्र

(अ) बाह्यतप

४३९. जत्थ कसायणिरोहो, बंभं जिणपूयणं अणसणं च।
सो सव्वो चेव तवो, विसेसओ मुद्धलोयंमि ॥१॥
यत्र कषायनिरोधो, ब्रह्म जिनपूजनम् अनशनं च।
तत् सर्वं चैव तपो, विशेषतः मुग्धलोके ॥१॥

४४०. सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो ॥२॥
तत् तपो द्विविधं उक्तं, बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
बाह्यं षड्विधं उक्तं, एवमाभ्यन्तरं तपः ॥२॥

४४१. अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य, वज्झो तवो होइ ॥३॥
अनशनमूनोदरिका, भिक्षाचर्या च रसपरित्यागः।
कायक्लेशः संलीनता च, बाह्यं तपो भवति ॥३॥

४४२. कम्माण णिज्जरट्ठं, आहारं परिहरेइ लीलाए।
एगदिणादिपमाणं, तस्स तवं अणसणं होदि ॥४॥
कर्मणां निर्जरार्थम्, आहारं परिहरति लीलया।
एकदिनादिप्रमाणं, तस्य तपः अनशनं भवति ॥४॥

४४३. जे पयणुभत्तपाणा, सुयहेऊ ते तवस्सिणो समए।
जो अ तवो सुयहीणो, बाहिरयो सो छुहाहारो ॥५॥
ये प्रतनुभक्तपाना, श्रुतहेतोस्ते तपस्विनः समये।
यच्च तपः श्रुतहीनं, बाह्यः स क्षुदाधारः ॥५॥

४४४. सो नाम अणसणतवो, जेण मणोऽमंगुलं न चिंतेइ।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति ॥६॥
तद् नाम अनशनतपो, येन मनोऽमङ्गलं न चिन्तयति।
येन नेन्द्रियहानिर्येन च योगा न हीयन्ते ॥६॥

२८. तपसूत्र

(अ) बाह्यतप

४३९ जहाँ कषायों का निरोध, ब्रह्मचर्य का पालन, जिनपूजन तथा अनशन (आत्मलाभ के लिए) किया जाता है, वह सब तप है। विशेषकर मुग्ध अर्थात् भक्तजन यही तप करते हैं।

४४० तप दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप छह प्रकार का है। इसी तरह आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का कहा गया है।

४४१ अनशन, अवमोदर्य (ऊनोदरिका), भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, कायक्लेश और संलीनता—इस तरह बाह्यतप छह प्रकार का है।

४४२. जो कर्मों की निर्जरा के लिए एक-दो दिन आदि का (यथाशक्ति) प्रमाण तय करके आहार का त्याग करता है, उसके अनशन तप होता है।

४४३ जो शास्त्राभ्यास (स्वाध्याय) के लिए अल्प-आहार करते हैं वे ही आगम में तपस्वी माने गये हैं। श्रुतविहीन अनशन तप तो केवल भूख का आहार करना है—भूखे मरना है।

४४४. वास्तव में वही अनशन-तप है जिससे मन में अमंगल की चिन्ता उत्पन्न न हो, इन्द्रियों की हानि (शिथिलता) न हो तथा मन वचन कायरूप योगों की हानि (गिरावट) न हो।

४४५. वल थामं च पेहाए, सद्धामारोग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए ॥७॥
वल स्थाम च प्रेक्ष्य श्रद्धाम् आरोग्यम् आत्मन ।
क्षेत्र काल च विज्ञाय तथा आत्मान नियुञ्जीत ॥७॥

४४६. उवसमणो अक्खाण, उववासो वण्णिदो समासेण।
तम्हा भुंजंता वि य, जिदिंदिया होंति उववासा ॥८॥
उपशमनम् अक्षाणाम्, उपवास वर्णित समासेन।
तस्मात् भुञ्जाना अपि च, जितेन्द्रिया भवन्ति उपवासा ॥८॥

४४७ छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं, अवहुसुयस्स जा सोही।
तत्तो वहुतरगुणिया, हविज्ज जिमियस्स नाणिस्स ॥९॥
षष्ठाष्टमदशमद्वादशै-रवहुश्रुतस्य या शुद्धि ।
ततो वहुतरगुणिता, भवेत् जिमितस्य ज्ञानिन ॥९॥

४४८. जो जस्स उ आहारो, तत्तो ओमं तु जो करे।
जहन्नेणेगसित्थाई, एव दव्वेण ऊ भवे ॥१०॥
यो यस्य त्वाहार, ततोऽवम तु य कुर्यात्।
जघन्येनैकसिक्थादि, एव द्रव्येण तु भवेत् ॥१०॥

४४९. गोयरपमाणदायग-भायणणाणाविधाण जं गहणं।
तह एसणस्स गहण, विविधस्स य वुत्तिपरिसंखा ॥११॥
गोचरप्रमाणदायक-भाजननानाविधान यद् ग्रहणम्।
तथा एषणीयस्य ग्रहण, विविधस्य च वृत्तिपरिसख्या ॥११॥

४५०. खीरदहिसप्पिमाई, पणीयं पाणभोयणं।
परिवज्जण रसाणं तु, भणियं रसविवज्जणं ॥१२॥
क्षीरदधिसर्पिरादि, प्रणीत पानभोजनम्।
परिवर्जन रसाना तु, भणित रसविवर्जनम् ॥१२॥

४५१. एगंतमणावाए, इत्थीपसुविवज्जिए।
सयणासणसेवणया, विवित्तसयणासणं ॥१३॥
एकान्तेऽनापाते, स्त्रीपशुविवर्जिते।
शयनासनसेवनता, विविक्तशयनासनम् ॥१३॥

४४५. अपने बल, तेज, श्रद्धा, तथा आरोग्य का निरीक्षण करके तथा क्षेत्र और काल को जानकर अपने को उपवास में नियुक्त करना चाहिए। (क्योंकि शक्ति से अधिक उपवास करने से हानि होती है।)

४४६. संक्षेप में इन्द्रियों के उपशमन को ही उपवास कहा गया है। अतः जितेन्द्रिय साधु भोजन करते हुए भी उपवासी ही होते हैं।

४४७. अबहुश्रुत अर्थात् अज्ञानी तपस्वी की जितनी विशुद्धि दो-चार दिनों के उपवास से होती है, उससे बहुत अधिक विशुद्धि नित्य भोजन करनेवाले ज्ञानी की होती है।

४४८. जो जितना भोजन कर सकता है, उसमें से कम से कम एक सिक्थ अर्थात् एक कण अथवा एक ग्रास आदि के रूप में कम भोजन करना द्रव्यरूपेण ऊनोदरी तप है।

४४९. आहार के लिए निकलनेवाले साधु का, वह वृत्तिपरिसंख्यान नामक तप है, जिसमें वह ग्रहण का प्रमाण करता है कि आज भिक्षा के लिए इतने घरों में जाऊँगा, अमुक प्रकार के दाता द्वारा दिया गया अथवा अमुक प्रकार के बर्तन में रखा गया आहार ग्रहण करूँगा, अमुक प्रकार का जैसे माँड, सत्तू आदि का भोजन मिलेगा तो करूँगा आदि-आदि।

४५०. दूध, दही, घी आदि पौष्टिक भोजन-पान आदि के रसों के त्याग- को रस-परित्याग नामक तप कहा गया है।

४५१. एकान्त, अनापात (जहाँ कोई आता जाता न हो) तथा स्त्री- पुरुषादि से रहित स्थान में शयन एवं आसन ग्रहण करना, विविक्त-शयनासन (प्रतिसंलीनता) नामक तप है।

४५२. ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जति, कायकिलेसं तमाहियं ॥१४॥
स्थानानि वीरासनादीनि, जीवस्य तु सुखावहानि।
उग्राणि यथा धार्यन्ते, कायक्लेश स आख्यात ॥१४॥

४५३. सुहेण भाविदं णाणं, दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई, अप्पा दुक्खेहि भावए ॥१५॥
सुखेन भावित ज्ञान, दुःखे जाते विनश्यति।
तस्मात् यथाबल योगी, आत्मानं दुःखै भावयेत् ॥१५॥

४५४–४५५. ण दुक्खं ण सुखं वा वि, जहाहेतु तिगिच्छति।
तिगिच्छिए सुजुत्तस्स, दुक्खं वा जइ वा सुहं ॥१६॥
मोहक्खए उ जुत्तस्स, दुक्खं वा जइ वा सुहं।
मोहक्खए जहाहेउ, न दुक्खं न वि वा सुहं ॥१७॥
न दुःख न सुख वाऽपि यथाहेतु चिकित्सति।
चिकित्सते सुयुक्तस्य दुःख वा यदि वा सुखम् ॥१६॥
मोहक्षये तु युक्तस्य, दुःख वा यदि वा सुखम्।
मोहक्षये यथाहेतु, न दुःख नाऽपि वा सुखम् ॥१७॥

(आ) आभ्यन्तरतप

४५६. पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झावो।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भितरो तवो ॥१८॥
प्रायश्चित्त विनय, वैयावृत्य तथैव स्वाध्याय।
ध्यान च व्युत्सर्ग, एतदाभ्यन्तर तप ॥१८॥

४५७ वद-समिदि-सील-संजम-परिणामो करणणिग्गहो भावो।
सो हवदि पायच्छित्तं, अणवरयं चेव कायव्वो ॥१९॥
व्रत-समिति-शील-सयम-परिणाम. करणनिग्रहो भाव।
स भवति प्रायश्चित्तम्, अनवरत चैव कर्तव्य. ॥१९॥

४५८. कोहादि-सगब्भाव-क्खयपहुदि-भावणाए णिग्गहणं।
पायच्छित्तं भणिदं, णियगुणचिंता य णिच्छयदो ॥२०॥
क्रोधादि-स्वकीयभाव-क्षयप्रभृति-भावनाया निग्रहणम्।
प्रायश्चित्त भणितं, निजगुणचिन्ता च निश्चयत ॥२०॥

४५२ गिरा, कन्दरा आदि भयकर स्थानो मे, आत्मा के लिए सुखावह, वीरासन आदि उग्र आसनो का अभ्यास करना या धारण करना कायक्लेश नामक तप है।

४५३ सुखपूर्वक प्राप्त किया हुआ ज्ञान दु ख के आने पर नष्ट हो जाता है। अत योगी को अपनी शक्ति के अनुसार दु खो के द्वारा अर्थात् कायक्लेशपूर्वक आत्म-चिन्तन करना चाहिए।

४५४–४५५ रोग की चिकित्सा मे रोगी का न सुख ही हेतु होता है, न दु ख ही। चिकित्सा कराने पर रोगी को दु ख भी हो सकता है और सुख भी। इसी तरह मोह के क्षय मे सुख और दु ख दोनो हेतु नही होते। मोह के क्षय मे प्रवृत्त होने पर साधक को सुख भी हो सकता है और दु ख भी। (कायक्लेश तप मे साधक को शरीरगत दु ख या वाह्य व्याधियो को सहन करना पडता है। लेकिन वह मोहक्षय की साधना का अंग होने से अनिष्टकारी नही होता।)

(आ) आभ्यन्तरतप

४५६ प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—इस तरह आभ्यन्तर तप छह प्रकार का है।

४५७. व्रत, समिति, शील, सयम-परिणाम तथा इन्द्रियनिग्रह का भाव ये सब प्रायश्चित्त तप है जो निरन्तर कर्तव्य-नित्य करणीय है।

४५८ क्रोध आदि स्वकीय भावो के क्षय वा उपशम आदि की भावना करना तथा निजगुणो का चिन्तन करना निश्चय-प्रायश्चित तप है।

४५९. णंताणंतभवेण, समज्जिअ-सुहअसुहकम्मसंदोहो ।
तवचरणेण विणस्सदि, पायच्छित्तं तवं तम्हा ॥२१॥
अनन्तानन्तभवेन, समर्जित-शुभाशुभकर्मसन्दोहः ।
तपश्चरणेन विनश्यति, प्रायश्चित्त तपस्तस्मात् ॥२१॥

४६०. आलोयण पडिकमणं, उभयविवेगो तहा विउस्सग्गो ।
तव छेदो मूलं वि य, परिहारो चेव सद्दहणा ॥२२॥
आलोचना प्रतिक्रमण, उभयविवेकः तथा व्युत्सर्ग ।
तप. छेदो मूलमपि च, परिहार चैव श्रद्धानं ॥२२॥

४६१. अणाभोगकिदं कम्मं, जं किं पि मणसा कदं ।
तं सव्वं आलोचेज्ज हु, अव्वाखित्तेण चेदसा ॥२३॥
अनाभोगकृत कर्म, यत्किमपि मनसा कृतम् ।
तत्सर्वमालोचयेत् खलु अव्याक्षिप्तेन चेतसा ॥२३॥

४६२. जह बालो जंपन्तो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोइज्जा, मायामयविप्पमुक्को वि ॥२४॥
यथा बालो जल्पन्, कार्यमकार्य च ऋजुक भणति ।
तत् तथाऽऽलोचयेन्मायामदविप्रमुक्त एव ॥२४॥

४६३–४६४. जह कंटएण विद्धो, सव्वंगे वेयणद्दिओ होइ ।
तह चेव उद्धियम्मि उ, निस्सल्लो निव्वुओ होइ ॥२५॥
एवमणुद्धियदोसो, माइल्लो तेणं दुक्खिओ होइ ।
सो चेव चत्तदोसो, सुविसुद्धो निव्वुओ होइ ॥२६॥
यथा कण्टकेन विद्ध, सर्वाङ्गे वेदनार्दितो भवति ।
तथैव उद्धृते तु निश्शल्यो निर्वृतो भवति ॥२५॥
एवमनुद्धृतदोषो, मायावी तेन दु.खितो भवति ।
स एव त्यक्तदोष, सुविशुद्धो निर्वृतो भवति ॥२६॥

४६५. जो पस्सदि अप्पाणं, समभावे संठवित्तु परिणामं ।
आलोयणमिदि जाणह, परमजिणंदस्स उवएसं ॥२७॥
य. पश्यत्यात्मान, समभावे संस्थाप्य परिणामम् ।
आलोचनमिति जानीत, परमजिनेन्द्रस्योपदेशम् ॥२७॥

४५९ अनन्तानन्त भवो मे उपार्जित शुभाशुभ कर्मो के समूह का नाश तपश्चरण से होता है। अत तपश्चरण करना प्रायश्चित्त है।

४६० प्रायश्चित्त दस प्रकार का है–आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार तथा श्रद्धान।

४६१. मन-वचन-काय द्वारा किये जानेवाले शुभाशुभ कर्म दो प्रकार के होते हैं–आभोगकृत और अनाभोगकृत। दूसरो द्वारा जाने गये कर्म आभोगकृत है और दूसरो द्वारा न जाने गये कर्म अनाभोग-कृत हैं। दोनो प्रकार के कर्मों की तथा उनमे लगे दोषो की आलोचना गुरु या आचार्य के समक्ष निराकुल चित्त से करनी चाहिए।

४६२ जैसे बालक अपने कार्य-अकार्य को सरलतापूर्वक मां के समक्ष व्यक्त कर देता है, वैसे ही साधु को भी अपने समस्त दोषो की आलोचना माया-मद (छल-छद्म) त्यागकर करनी चाहिए।

४६३–४६४ जैसे कांटा चुभने पर सारे शरीर मे वेदना या पीडा होती है और कांटे के निकल जाने पर शरीर नि शल्य अर्थात् सर्वाग सुखी हो जाता है, वैसे ही अपने दोषो को प्रकट न करनेवाला मायावी दु खी या व्याकुल रहता है और उनको गुरु के समक्ष प्रकट कर देने पर सुविशुद्ध होकर सुखी हो जाता है–मन मे कोई शल्य नहीं रह जाता।

४६५. अपने परिणामो को समभाव मे स्थापित करके आत्मा को देखना ही आलोचना है। ऐसा जिनेन्द्रदेव का उपदेश है।

४६६. अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं, तहेवासणदायणं ।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ ॥२८॥
अभ्युत्थानमञ्जलिकरण, तथैवासनदानम् ।
गुरुभक्तिभावशुश्रूषा, विनय एष व्याख्यात ॥२८॥

४६७. दंसणणाणे विणओ, चरित्ततव-ओवचारिओ विणओ ।
पंचविहो खलु विणओ, पंचमगइणाइगो भणिओ ॥२९॥
दर्शनज्ञाने विनयश्चारित्रतप-औपचारिको विनय· ।
पञ्चविध खलु विनय, पञ्चमगतिनायको भणित. ॥२९॥

४६८. एकम्मि हीलियम्मि, हीलिया हुंति ते सव्वे ।
एकम्मि पूइयम्मि, पूइया हुंति सव्वे ॥३०॥
एकस्मिन् हीलिते, हीलिता भवन्ति सर्वे ।
एकस्मिन् पूजिते, पूजिता भवन्ति सर्वे ॥३०॥

४६९. विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे ।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ? ॥३१॥
विनय. शासने मूल, विनीत. सयत. भवेत् ।
विनयात् विप्रमुक्तस्य, कुतो धर्म कुत. तप ? ॥३१॥

४७०. विणओ मोक्खद्दारं, विणयादो संजमो तवो णाणं ।
विणएणाराहिज्जदि, आइरिओ सव्वसंघो य ॥३२॥
विनयो मोक्षद्वार, विनयात् सयमस्तपो ज्ञानम् ।
विनयेनाराध्यते, आचार्य सर्वसघश्च ॥३२॥

४७१. विणयाहीया विज्जा, देंति फलं इह परे य लोगम्मि ।
न फलंति विणयहीणा, सस्साणि व तोयहीणाइं ॥३३॥
विनयाधीता विद्या, ददति फलम् इह परत्र च लोके ।
न फलन्ति विनयहीना·, सस्यानीव तोयहीनानि ॥३३॥

४७२. तम्हा सव्वपयत्ते, विणीयत्तं मा कदाइ छंडेज्जा ।
अप्पसुदो वि य पुरिसो, खवेदि कम्माणि विणएण ॥३४॥
तस्मात् सर्वप्रयत्ने, विनीतत्वं मा कदाचित् छर्दयेत् ।
अल्पश्रुतोऽपि च पुरुष, क्षपयति कर्माणि विनयेन ॥३४॥

४६६. गुरु तथा वृद्धजनो के समक्ष आने पर खडे होना, हाथ जोडना, उन्हे उच्च आसन देना, गुरुजनो की भावपूर्वक भक्ति तथा सेवा करना विनय तप है।

४६७. दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपविनय और औप-चारिकविनय—ये विनय तप के पाँच भेद कहे गये है, जो पचमगति अर्थात् मोक्ष मे ले जाते है।

४६८. एक के तिरस्कार मे सबका तिरस्कार होता है और एक की पूजा मे सबकी पूजा होती है। (इसलिए जहाँ कही कोई पूज्य या वृद्धजन दिखाई दे, उनका विनय करना चाहिए।)

४६९ विनय जिनशासन का मूल है। सयम तथा तप से विनीत बनना चाहिए। जो विनय से रहित है, उसका कैसा धर्म और कैसा तप ?

४७० विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से सयम, तप तथा ज्ञान प्राप्त होता है। विनय से आचार्य तथा सर्वसघ की आराधना होती है।

४७१ विनयपूर्वक प्राप्त की गयी विद्या इस लोक तथा परलोक मे फलदायिनी होती है और विनयविहीन विद्या फलप्रद नही होती, जैसे बिना जल के धान्य नही उपजता।

४७२ इसलिए सब प्रकार का प्रयत्न करके विनय को कभी नही छोडना चाहिए। अल्पश्रुत का अभ्यासी पुरुष भी विनय के द्वारा कर्मों का नाश करता है।

४७३. सेज्जोगासणिसेज्जो, तहोवहिपडिलेहणाहि उवग्गहिदे।
आहारोसहवायण-विकिंचणं वंदणादीहिं ॥३५॥
शय्यावकाशनिषद्या, तथा उपधिप्रतिलेखनाभि: उपगृहीते।
आहारौषधवाचना-विकिंचन वन्दनादिभि ॥३५॥

४७४. अद्धाणतेणसावद-रायणदीरोधणासिवे ओमे।
वेज्जावच्चं उत्तं, संगहसारक्खणोवेदं ॥३६॥
अध्वस्तेनश्वापद-राजनदीरोधनाशिवे अवमे।
वैयावृत्यमुक्त, सग्रहसरक्षणोपेतम् ॥३६॥

४७५. परियट्टणा य वायणा, पडिच्छणाणुवेहणा य धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तो, पंचविहो होइ सज्झाओ ॥३७॥
परिवर्तना च वाचना, पृच्छनाऽनुप्रेक्षणा च धर्मकथा।
स्तुतिमङ्गलसयुक्त, पञ्चविधो भवति स्वाध्याय ॥३७॥

४७६. पूयादिसु णिरवेक्खो, जिण-सत्थं जो पढेइ भत्तीए।
कम्ममल-सोहणट्ठं, सुयलाहो सुहयरो तस्स ॥३८॥
पूजादिषु निरपेक्ष, जिनशास्त्र य पठति भक्त्या।
कर्ममलशोधनार्थं, श्रुतलाभ सुखकर तस्य ॥३८॥

४७७. सज्झायं जाणंतो, पंचिंदियसंवुडो तिगुत्तो य।
होइ य एकग्गमणो, विणएण समाहिओ साहू ॥३९॥
स्वाध्याय जानान, पञ्चेन्द्रियसवृत त्रिगुप्त च।
भवति च एकाग्रमना, विनयेन समाहित साधु ॥३९॥

४७८. णाणेण ज्झाणसिज्झी, झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं।
णिज्जरणफलं मोक्खं, णाणब्भासं तदो कुज्जा ॥४०॥
ज्ञानेन ध्यानसिद्धि ध्यानात् सर्वकर्मनिर्जरणम्।
निर्जरणफल मोक्ष ज्ञानाभ्यास तत कुर्यात् ॥४०॥

४७९. बारसविहम्मि वि तवे, अब्भितरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
न वि अत्थि न वि य होही, सज्झायसमं तवोकम्मं ॥४१॥
द्वादशविधेऽपि तपसि, साभ्यन्तरबाह्ये कुशलदृष्टे।
नापि अस्ति नापि च भविष्यति, स्वाध्यायसम तप कर्म ॥४१॥

४७३ शय्या, वसति, आसन तथा प्रतिलेखन से उपकृत साधुजनो की आहार, औषधि, वाचना, मल-मूत्र-विसर्जन तथा वन्दना आदि से सेवा-शुश्रूषा करना वैयावृत्य तप है।

४७४ जो मार्ग मे चलने से थक गये है, चोर, श्वापद (हिंस्रपशु), राजा द्वारा व्यथित, नदी की रुकावट, मरी (प्लेग) आदि रोग तथा दुर्भिक्ष से पीडित है, उनकी सार-सम्हाल तथा रक्षा करना वैयावृत्य है।

४७५ स्वाध्याय तप पाँच प्रकार का है—परिवर्तना, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और स्तुति-मगलपूर्वक धर्मकथा करना।

४७६. आदर-सत्कार की अपेक्षा से रहित होकर जो कर्मरूपी मल को धोने के लिए भक्तिपूर्वक जिनशास्त्रो को पढता है, उसका श्रुतलाभ स्व-पर सुखकारी होता है।

४७७ स्वाध्यायी अर्थात् शास्त्रो का ज्ञाता साधु पाँचो इन्द्रियो से संवृत, तीन गुप्तियो से युक्त, विनय से समाहित तथा एकाग्रमन होता है।

४७८. ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है। ध्यान से सब कर्मो की निर्जरा होती है। निर्जरा का फल मोक्ष है। अत. सतत ज्ञानाभ्यास करना चाहिए।

४७९. बाह्याभ्यन्तर बारह तपो मे स्वाध्याय के समान तप न तो है, न हुआ है, न होगा।

४८०. सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ ॥४२॥
शयनासनस्थाने वा, यस्तु भिक्षुर्न व्याप्रियते।
कायस्य व्युत्सर्गं, षष्ठ स परिकीर्तित ॥४२॥

४८१. देहमइजड्डसुद्धी, सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा।
झायइ य सुहं झाणं, एगग्गो काउसग्गम्मि ॥४३॥
देहमति जाड्यशुद्धि मुखदु ख तितिक्षता अनुप्रेक्षा।
ध्यायति च शुभ ध्यानम् एकाग्र कायोत्सर्गे ॥४३॥

४८२. तेसिं तु तवो ण सुद्धो, निक्खंता जे महाकुला।
जं नेवन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेज्जइ ॥४४॥
तेषामपि तपो न शुद्ध, निष्क्रान्ता ये महाकुला।
यद् नैवाऽन्ये विजानन्ति, न श्लोक प्रवेदयेत् ॥४४॥

४८३. नाणमयवायसहिओ, सीलुज्जलिओ तवो मओ अग्गी।
संसारकरणवीयं, दहइ दवग्गी व तणरासिं ॥४५॥
ज्ञानमयवातसहित, शीलोज्ज्वलित तपो मतोऽग्नि।
ससारकरणवीज, दहति दवाग्निरिव तृणराशिम् ॥४५॥

२९. ध्यानसूत्र

४८४. सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य।
सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा झाणं विधीयते ॥१॥
शीर्ष यथा शरीरस्य यथा मूल द्रुमस्य च।
सर्वस्य साधुधर्मस्य तथा ध्यान विधीयते ॥१॥

४८५. जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं जं चलंतयं चित्तं।
तं होज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता ॥२॥
यत् स्थिरमध्यवसान, तद् ध्यानं यत् चलत्क चित्तम्।
तद् भवेद् भावना वा, अनुप्रेक्षा वाऽथवा चिन्ता ॥२॥

४८०. भिक्षु का शयन, आसन और खड़े होने में व्यर्थ का कायिक व्यापार न करना, काष्ठवत् रहना, छठा कायोत्सर्ग तप है।

४८१. कायोत्सर्ग करने से ये लाभ प्राप्त होते हैं—

१. देहजाड्यशुद्धि—श्लेष्म आदि दोषों के क्षीण होने से देह की जड़ता नष्ट होती है।

२. मतिजाड्यशुद्धि—जागरूकता के कारण बुद्धि की जड़ता नष्ट होती है।

३. सुख-दुःख तितिक्षा—सुख-दुःख को सहने की शक्ति का विकास होता है।

४. अनुप्रेक्षा—भावनाओं के लिए समुचित अवसर का लाभ होता है।

५. एकाग्रता—शुभध्यान के लिए चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है।

४८२. उन महाकुलवालों का तप भी शुद्ध नहीं है, जो प्रव्रज्या धारणकर पूजा-सत्कार के लिए तप करते हैं। इसलिए कल्याणार्थी को इस तरह तप करना चाहिए कि दूसरे लोगों को पता तक न चले। अपने तप की किसी के समक्ष प्रशंसा भी नहीं करनी चाहिए।

४८३. ज्ञानमयी वायुसहित तथा शील द्वारा प्रज्वलित तपोमयी अग्नि संसार के कारणभूत कर्म-बीज को वैसे ही जला डालती है, जैसे वन में लगी प्रचण्ड आग तृण-राशि को।

२९. ध्यानसूत्र

४८४. जैसे मनुष्य-शरीर में सिर और वृक्ष में उसकी जड़ उत्कृष्ट या मुख्य है, वैसे ही साधु के समस्त धर्मों का मूल ध्यान है।

४८५. स्थिर अध्यवसान अर्थात् मानसिक एकाग्रता ही ध्यान है। और जो चित्त की चंचलता है उसके तीन रूप हैं—भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता।

४८६. लवण व्व सलिलजोए, झाणे चित्तं विलीयए जस्स ।
तस्स सुहासुहडहणो, अप्पाअणलो पयासेइ ॥३॥
लवणमिव सलिलयोगे, ध्याने चित्त विलीयते यस्य ।
तस्य शुभाशुभदहनो, आत्मानल प्रकाशयति ॥३॥

४८७. जस्स न विज्जदि रागो, दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुहडहणो, झाणमओ जायए अग्गी ॥४॥
यस्य न विद्यते रागो, द्वेपो मोहो वा योगपरिकर्म ।
तस्य शुभाशुभदहनो, ध्यानमयो जायते अग्नि. ॥४॥

४८८. पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व, होऊण सुइ-समायारो ।
झाया समाहिजुत्तो, सहासणत्थो सुइसरीरो ॥५॥
पूर्वाभिमुख. उत्तरमुखो वा भूत्वा शुचिसमाचार ।
ध्याता समाधियुक्त सुखासनस्थ शुचिशरीर ॥५॥

४८९. पलियंकं बंधेउं, निसिद्धमण-वयणकायवावारो ।
नासग्गनिमियनयणो, मंदीकयसासनीसासो ॥६॥
पल्यङ्क वद्ध्वा निपिद्धमनोवचनकायव्यापार ।
न्यासाग्रनिमित्तनयन मन्दीकृतश्वासनि श्वास ॥६॥

४९०. गरहियनियदुच्चरिओ, खामियसत्तो नियत्तियपमाओ ।
निच्चलचित्तो ता झाहि, जाव पुरओव्व पडिहाइ ॥७॥
गर्हितनिजदुश्चरित' क्षमितसत्त्व निवर्तितप्रमाद. ।
निश्चलचित्त तावद् ध्याय यावत् पुरत. इव प्रतिभाति ॥७॥

४९१. थिरकयजोगाणं पुण, मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाणं ।
गामम्मि जणाइण्णे, सुण्णे रण्णे व ण विसेसो ॥८॥
स्थिरकृतयोगाना पुन., मुनीना ध्याने सुनिश्चलमनसाम् ॥
ग्रामे जनाकीर्णे, शून्येऽरण्ये वा न विशेष ॥८॥

४९२. जे इंदियाणं विसया मणुण्णा, न तेसु भावं निसिरे कयाइ ।
न याऽमणुण्णेसु मणं पि कुज्जा, समाहिकामे समणे तवस्सी ॥९॥
य इन्द्रियाणा विषया मनोज्ञा , न तेपु भावं निसृजेत् कदापि ।
न चामनोज्ञेपु मनोऽपि कुर्यात्, समाधिकाम श्रमणस्तपस्वी ॥९॥

४८६. जैसे पानी का योग पाकर नमक विलीन हो जाता है, वैसे ही जिसका चित्त निर्विकल्प समाधि मे लीन हो जाता है, उसकी चिर सचित शुभाशुभ कर्मों को भस्म करनेवाली, आत्मरूप अग्नि प्रकट होती है।

४८७ जिसके राग-द्वेष और मोह नही है तथा मन-वचन-कायरूप योगो का व्यापार नही रह गया है, उसमे समस्त शुभाशुभ कर्मो को जलानेवाली ध्यानाग्नि प्रकट होती है।

४८८. पूर्व या उत्तर दिशाभिमुख होकर बैठनेवाला शुद्ध आचार तथा पवित्र शरीरवाला ध्याता सुखासन से स्थित हो समाधि मे लीन होता है।

४८९. वह ध्याता पल्यकासन बाँधकर और मन-वचन-काय के व्यापार को रोककर दृष्टि को नासिकाग्र पर स्थिर करके मन्द-मन्द श्वासोच्छ्वास ले।

४९० वह अपने पूर्वकृत बुरे आचरण की गर्हा करे, सब प्राणियो से क्षमाभाव चाहे, प्रमाद को दूर करे और चित्त को निश्चल करके तब तक ध्यान करे जब तक पूर्वबद्ध कर्म नष्ट न हो जायँ।

४९१. जिन्होने अपने योग अर्थात् मन-वचन-काय को स्थिर कर लिया है और जिनका ध्यान में चित्त पूरी तरह निश्चल हो गया है, उन मुनियो के ध्यान के लिए घनी आबादी के ग्राम अथवा शून्य अरण्य मे कोई अन्तर नही रह जाता।

४९२ समाधि की भावनावाला तपस्वी श्रमण इन्द्रियो के अनुकूल विषयो (शब्द-रूपादि) मे कभी रागभाव न करे और प्रतिकूल विषयो मे मन से भी द्वेषभाव न करे।

४९३. सुविदियजगस्सभावो, निस्संगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्गभावियमणो, झाणंमि सुनिच्चलो होइ ॥१०॥
सुविदितजगत्स्वभाव, निस्सग निर्भय निराशश्च।
वैराग्यभावितमना, ध्याने मुनिश्चलो भवति ॥१०॥

४९४. पुरीसायारो अप्पा, जोई वरणाणदंसणसमग्गो।
जो झायदि सो जोई, पावहरो हवदि णिद्दंदो ॥११॥
पुरुपाकार आत्मा, योगी वरज्ञानदर्शनसमग्र।
य ध्यायति स योगी, पापहर भवति निर्द्वन्द्व ॥११॥

४९५. देहविवित्तं पेच्छइ, अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे।
देहोवहिवोसग्गं निस्संगो सव्वहा कुणइ ॥१२॥
देहविविक्त प्रेक्षते आत्मान तथा च सर्वसयोगान्।
देहोपधिव्युत्सर्ग, निस्सग सर्वथा करोति ॥१२॥

४९६. णाहं होमि परेसिं, ण मे परे संति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे, सो अप्पाणं हवदि झादा ॥१३॥
नाह भवामि परेपा, न मे परे सन्ति ज्ञानमहमेक।
इति यो ध्यायति ध्याने, स आत्मा भवति ध्याता ॥१३॥

४९७. झाणट्ठिओ हु जोई जइणो संवेय णिययअप्पाणं।
तो ण लहइ तं सुद्धं भग्गविहीणो जहा रयणं ॥१४
ध्यानस्थितो खलु योगी यदि नो सवेत्ति निजात्मानम्।
तो न लभते त शुद्ध भाग्यविहीनो यथा रत्नम् ॥१४॥

४९८. भावेज्ज अवत्थतियं, पिंडत्थ-पयत्थ-रूवरहियत्तं।
छउमत्थ-केवलित्तं, सिद्धत्तं चेव तस्सत्थो ॥१५॥
भावयेत् अवस्थात्रिक पिण्डस्थ-पदस्थ-रूपरहितत्वम्।
छद्मस्थ-केवलित्व सिद्धत्व चैव तस्यार्थ ॥१५॥

४९९. अवि झाइ से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं।
उड्ढमहे तिरियं च, पेहमाणे समाहिमपडिण्णे ॥१६॥
अपि ध्यायति स महावीर, आसनस्थ अकौत्कुच ध्यानम्।
ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च, प्रेक्षमाण समाधिम् अप्रतिज्ञ ॥१६॥

४९३. जो ससार के स्वरूप से सुपरिचित है, नि सग, निर्भय तथा आशारहित है तथा जिसका मन वैराग्यभावना से युक्त है, वही ध्यान मे सुनिश्चल—भलीभाँति स्थित होता है ।

४९४. जो योगी पुरुष के आकारवाली तथा केवलज्ञान व केवलदर्शन से पूर्ण आत्मा का ध्यान करता है, वह कर्मबन्धन को नष्ट करके निर्द्वन्द्व हो जाता है ।

४९५ ध्यान-योगी अपने आत्मा को शरीर तथा समस्त वाह्य सयोगो से विविक्त (भिन्न) देखता है अर्थात् देह तथा उपधि का सर्वथा त्याग करके नि सग हो जाता है ।

४९६ वही श्रमण आत्मा का ध्याता है जो ध्यान मे चिन्तवन करता है कि "मै न 'पर' का हू, न 'पर' (पदार्थ या भाव) मेरे है, मै तो एक (शुद्ध-बुद्ध) ज्ञानमय (चैतन्य) हूँ ।"

४९७. ध्यान मे स्थित योगी यदि अपनी आत्मा का सवेदन नही करता तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त नही कर सकता, जैसे कि भाग्यहीन व्यक्ति रत्न प्राप्त नही कर सकता ।

४९८. ध्यान करनेवाला साधक पिडस्थ, पदस्थ और रूपातीत—इन तीनो अवस्थाओ की भावना करे । पिडस्थध्यान का विषय है—छद्मस्थत्व—देह-विपश्यत्व । पदस्थध्यान का विषय है केवलित्व—केवली द्वारा प्रतिपादित अर्थ का अनुचिंतन और रूपातीतध्यान का विषय है सिद्धत्व—शुद्ध आत्मा ।

४९९ भगवान् ऊँकडू आदि आसनो मे स्थित और स्थिर होकर ध्यान करते थे । वे ऊँचे-नीचे और तिरछे लोक में होनेवाले पदार्थो को ध्येय बनाते थे । उनकी दृष्टि आत्म-समाधि पर टिकी हुई थी । वे सकल्प-मुक्त थे ।

५००. णातीतमट्ठं ण य आगमिस्सं, अट्ठं नियच्छंति तहागया उ ।
विधूतकप्पे एयाणुपस्सी, णिज्झोसइत्ता खवगे महेसी ॥१७॥
नातीतमर्थं न च आगमिष्यन्तम् अर्थं निगच्छन्ति तथा गतास्तु ।
विधूतकल्प एतदनुदर्शी निर्झोषयिता क्षपक महर्षि ॥१७॥

५०१. मा चिट्ठह मा जपह, मा चिन्तह किं वि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं ॥१८॥
मा चेष्टध्वम् मा जल्पत, मा चिन्तयत किमपि येन भवति स्थिर·
आत्मा आत्मनि रत, इदमेव पर भवेद् ध्यानम् ॥१८॥

५०२. न कसायसमुत्थेहि य, वहिज्जइ माणसेहि दुक्खेहि ।
ईसा-विसाय-सोगा-इएहि, झाणोवगयचित्तो ॥१९॥
न कषायसमुत्थैश्च, वाध्यते मानसैर्दुःखैः ।
ईर्ष्या-विषाद-शोका-दिभि ध्यानोपगतचित्त ॥१९॥

५०३. चालिज्जइ बीभेइ य, धीरो न परीसहोवसग्गेहि ।
सुहुमेसु न संमुच्छइ, भावेसु न देवमायासु ॥२०॥
चाल्यते विभेति च, धीर न परीषहोपसर्गे ।
सूक्ष्मेषु न समुह्यति, भावेषु न देवमायासु ॥२०॥

५०४. जह चिरसंचियमिंधण-मनलो पवणसहिओ दुयं दहइ ।
तह कम्मेंधणममियं, खणेण झाणानलो डहइ ॥२१॥
यथा चिरसचितमिन्धन-मनल पवनसहित द्रुत दहति ।
तथा कर्मेन्धनममित, क्षणेन ध्यानानल दहति ॥२१॥

३०. अनुप्रेक्षासूत्र

५०५. झाणोवरमेऽवि मुणी, णिच्चमणिच्चाइभावणापरमो ।
होइ सुभावियचित्तो, धम्मज्झाणेण जो पुव्विं ॥१॥
ध्यानोपरमेऽपि मुनि, नित्यमनित्यादिभावनापरम ।
भवति सुभावितचित्त, धर्मध्यानेन य पूर्वम् ॥१॥

५०६. अद्धुवमसरणमेगत्त-मन्नत्तसंसारलोयमसुइत्तं ।
आसवसंवरणिज्जर, धम्मं बोधिं च चिंतिज्ज ॥२॥
अध्रुवमशरणमेकत्व-मन्यत्वसंसार-लोकमशुचित्व ।
आस्रवसंवरनिर्जर, धर्मं बोधिं च चिन्तयेत् ॥२॥

५००. तथागत अतीत और भविष्य के अर्थ को नही देखते। कल्पना मुक्त महर्षि वर्तमान का अनुपश्यी हो, (कर्म-शरीर) का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है।

५०१. हे ध्याता! तू न तो शरीर से कोई चेष्टा कर, न वाणी से कुछ बोल और न मन से कुछ चिन्तन कर, इस प्रकार योग का निरोध करने से तू स्थिर हो जायेगा—तेरी आत्मा आत्मरत हो जायेगी। यही परम ध्यान है।

५०२ जिनका चित्त इस प्रकार के ध्यान मे लीन है, वह आत्मध्यानी पुरुष कषाय से उत्पन्न ईर्षा, विषाद, शोक आदि मानसिक दु खो से बाधित (ग्रस्त या पीड़ित) नही होता।

५०३. वह धीर पुरुष न तो परीषह, न उपसर्ग आदि से विचलित और भयभीत होता है तथा न ही सूक्ष्म भावो व देवनिर्मित मायाजाल मे मुग्ध होता है।

५०४. जैसे चिरसचित ईंधन को वायु से उद्दीप्त आग तत्काल जला डालती है, वैसे ही ध्यानरूपी अग्नि अपरिमित कर्म-ईंधन को क्षणभर मे भस्म कर डालती है।

३०. अनुप्रेक्षासूत्र

५०५ मोक्षार्थी मुनि सर्वप्रथम धर्म-ध्यान द्वारा अपने चित्त को सुभावित करे। बाद मे धर्म-ध्यान से उपरत होने पर भी सदा अनित्य-अशरण आदि भावनाओ के चिन्तवन मे लीन रहे।

५०६. अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि—इन बारह भावनाओ का चिन्तवन करना चाहिए।

५०७. जम्मं मरणेण समं, संपज्जइ जोव्वणं जरासहियं ।
लच्छी विणास-सहिया, इय सव्वं भंगुरं मुणह ॥३॥
जन्म मरणेन समं, सम्पद्यते यौवनं जरासहितम् ।
लक्ष्मी विनाशसहिता, इति सर्वं भङ्गुरं जानीत ॥३॥

५०८. चइऊण महामोहं, विसए मुणिऊण भंगुरे सव्वे ।
णिव्विसयं कुणह मणं, जेण सुहं उत्तमं लहह ॥४॥
त्यक्त्वा महामोहं, विषयान् ज्ञात्वा भङ्गुरान् सर्वान् ।
निर्विषयं कुरुत मनः, येन सुखमुत्तमं लभध्वम् ॥४॥

५०९. वित्तं पसवो य णाइओ, तं बाले सरणं ति मण्णइ ।
एए मम तेसिं वा अहं, णो ताणं सरणं ण विज्जई ॥५॥
वित्तं पशवश्च ज्ञातयः, तद् बालः शरणमिति मन्यते ।
एते मम तेष्वप्यहं, नो त्राणं शरणं न विद्यते ॥५॥

५१०. संगं परिजाणामि, सल्लं पि य उद्धरामि तिविहेणं ।
गुत्तीओ समिईओ, मज्झं ताणं च सरणं च ॥६॥
संगं परिजानामि, शल्यमपि चोद्धरामि त्रिविधेन ।
गुप्तयः समितयः, मम त्राणं च शरणं च ॥६॥

५११. धी संसारो जहियं, जुवाणओ परमरूवगव्वियओ ।
मरिऊण जायइ, किमी तत्थेव कलेवरे नियए ॥७॥
धिक् संसारं यत्र, युवा परमरूपगर्वितकः ।
मृत्वा जायते, कृमिस्तत्रैव कलेवरे निजके ॥७॥

५१२. सो नत्थि इहोगासो, लोए वालग्गकोडिमित्तोऽवि ।
जम्मणमरणाबाहा, अणेगसो जत्थ न य पत्ता ॥८॥
स नास्तीहावकाशो, लोके वालाग्रकोटिमात्रोऽपि ।
जन्ममरणाबाधा, अनेकशो यत्र न च प्राप्ता ॥८॥

५१३. बाहिजरमरणमयरो, निरंतरुप्पत्तिनीरनिकुरुंबो ।
परिणामदारुणदुहो, अहो दुरंतो भवसमुद्दो ॥९॥
व्याधिजरामरणमकरो, निरन्तरोत्पत्ति-नीरनिकुरुम्बः ।
परिणामदारुणदुःखः, अहो ! दुरन्तो भवसमुद्रः ॥९॥

५०७. जन्म मरण के साथ जुड़ा हुआ है और यौवन वृद्धावस्था के साथ। लक्ष्मी चचला है। इस प्रकार (ससार में) सब-कुछ क्षण-भगुर है—अनित्य है।

५०८. महामोह को तजकर तथा सब इन्द्रिय-विषयों को क्षण-भगुर जानकर मन को निर्विषय बनाओ, ताकि उत्तम सुख प्राप्त हो।

५०९. अज्ञानी जीव धन, पशु तथा ज्ञातिवर्ग को अपना रक्षक या शरण मानता है कि ये मेरे हैं और मैं इनका हूँ। किन्तु वास्तव में ये सब न तो रक्षक हैं और न शरण।

५१०. मैं परिग्रह को समझ-बूझकर तजता हूँ और माया, मिथ्यात्व व निदान इन तीन शल्यों को भी मन-वचन-काय से दूर करता हूँ। तीन गुप्तियाँ और पाँच समितियाँ ही मेरे लिए रक्षक और शरण हैं।

५११ इस ससार को धिक्कार है, जहाँ परम रूप-गर्वित युवक मृत्यु के बाद अपने उसी त्यक्त (मृत) शरीर में कृमि के रूप में उत्पन्न हो जाता है।

५१२ इस संसार में बाल की नोक जितना भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ इस जीव ने अनेक बार जन्म-मरण का कष्ट न भोगा हो।

५१३. अहो! यह भवसमुद्र दुरन्त है—इसका अन्त बडे कष्ट से होता है। इसमें व्याधि तथा जरा-मरणरूपी अनेक मगरमच्छ हैं, निरन्तर उत्पत्ति या जन्म ही जलराशि है। इसका परिणाम दारुण दुःख है।

५१४. रयणत्तय-संजुत्तो, जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं ।
संसारं तरइ जदो, रयणत्तय-दिव्व-णावाए ॥१०॥
रत्नत्रयसंयुक्त , जीव. अपि भवति उत्तमं तीर्थम् ।
संसारं तरति यत , रत्नत्रयदिव्यनावा ॥१०॥

५१५. पत्तेयं पत्तेयं नियगं, कम्मफलमणुहवंताणं ।
को कस्स जए सयणो ? को कस्स व परजणो भणिओ ? ॥११॥
प्रत्येकं प्रत्येकं निजक, कर्मफलमनुभवताम् ।
क कस्य जगति स्वजन.? क कस्य वा परजनो भणित ॥११॥

५१६. एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥१२॥
एको मे शाश्वत आत्मा, ज्ञानदर्शनसंयुत ।
शेषा मे बाह्या भावा., सर्वे संयोगलक्षणा. ॥१२॥

५१७. संजोगमूला जीवेणं, पत्ता दुक्खपरंपरा ।
तम्हा संजोगसंबंधं, सव्वभावेण वोसिरे ॥१३॥
सयोगमूला जीवेन, प्राप्ता दु.खपरम्परा ।
तस्मात्सयोगसम्बन्ध, सर्वभावेन व्युत्सृजामि ॥१३॥

५१८. अणुसोअइ अन्नजणं, अन्नभवंतरगयं तु बालजणो ।
नवि सोयइ अप्पाणं, किलिस्समाणं भवसमुद्दे ॥१४॥
अनुशोचत्यन्यजन-मन्यभावान्तरगतं तु बालजन. ।
नैव शोचत्यात्मान, क्लिश्यमान भवसमुद्रे ॥१४॥

५१९. अन्नं इमं सरीरं, अन्नोऽहं बंधवाविमे अन्ने ।
एवं नाऊण खमं, कुसलस्स न तं खमं काउं ? ॥१५॥
अन्यदिद शरीरम्, अन्योऽह बान्धवा अपीमेऽन्ये ।
एवं ज्ञात्वा क्षम, कुशलस्य न तत् क्षम कर्तुम् ॥१५॥

५२०. जो जाणिऊण देहं, जीवसरूवादु तच्चदो भिन्नं ।
अप्पाणं पि य सेवदि, कज्जकरं तस्स अण्णत्तं ॥१६॥
य. ज्ञात्वा देहं, जीवस्वरूपात् तत्त्वत. भिन्नम् ।
आत्मानमपि च सेवते, कार्यकरं तस्य अन्यत्वम् ॥१६॥

५१४. (वास्तव में-) रत्नत्रय से सम्पन्न जीव ही उत्तम तीर्थ (तट) है, क्योंकि वह रत्नत्रयरूपी दिव्य नौका द्वारा ससार-सागर स पार करता है ।

५१५. यहाँ प्रत्येक जीव अपने-अपने कर्मफल को अकेला ही भोगता है । ऐसी स्थिति मे यहाँ कौन किसका स्वजन है और कौन किसका पर जन ?

५१६. ज्ञान और दर्शन से सयुक्त मेरी एक आत्मा ही शाश्वत है । शेष सब अर्थात् देह तथा रागादि भाव तो सयोगलक्षणवाले है—उनके साथ मेरा संयोगसम्वन्ध मात्र है । वे मुझसे अन्य ही है ।

५१७. इस संयोग के कारण ही जीव दु खो की परम्परा को प्राप्त हुआ है । अत सम्पूर्णभाव से मै इस सयोग-सम्वन्ध का त्याग करता हूँ ।

५१८. अज्ञानी मनुष्य अन्य भवो मे गये हुए दूसरे लोगो के लिए तो शोक करता है, किन्तु भव-सागर मे कष्ट भोगनेवाली अपनी आत्मा की चिन्ता नही करता ।

५१९. यह शरीर अन्य है, मै अन्य हूँ, वन्धु-वान्धव भी मुझसे अन्य है । ऐसा जानकर कुशल व्यक्ति उनमे आसक्त न हो ।

५२०. जो शरीर को जीव के स्वरूप से तत्त्वत भिन्न जानकर आत्मा का अनुचिन्तन करता है, उसकी अन्यत्व भावना कार्यकारी है ।

५२१. मंसट्ठियसंघाए, मुत्तपुरीसभरिए नवच्छिद्दे ।
असुइं परिस्सवंते, सुहं सरीरम्मि किं अत्थि ? ॥१७॥
मांसास्थिकसंघाते, मूत्रपुरीषभृते नवच्छिद्रे ।
अशुचि परिस्रवति, शुभं शरीरे किमस्ति ? ॥१७॥

५२२. एदे मोहय-भावा, जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो ।
हेयं ति मन्नमाणो, आसवअणुवेहणं तस्स ॥१८॥
एतान् मोहजभावान्, यः परिवर्जयति उपशमे लीनः ।
हेयम् इति मन्यमानः, आस्रवानुप्रेक्षणं तस्य ॥१८॥

५२३. मणवयणकायगुत्तिं-दियस्स समिदीसु अप्पमत्तस्स ।
आसवदारणिरोहे, णवकम्मरयासवो ण हवे ॥१९॥
मनोवचनकायगुप्तेन्द्रियस्य समितिषु अप्रमत्तस्य ।
आस्रवद्वारनिरोधे, नवकर्मरजआस्रवो न भवेत् ॥१९॥

५२४. णाऊण लोगसारं, णिस्सारं दीहगमणसंसारं ।
लोयग्गसिहरवासं झाहि पयत्तेण सुहवासं ॥२०॥
ज्ञात्वा लोकसारं, निःसारं दीर्घगमनसंसारम् ।
लोकाग्रशिखरवासं, ध्याय प्रयत्नेन सुखवासम् ॥२०॥

५२५. जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥२१॥
जरामरणवेगेन, उह्यमानानां प्राणिनाम् ।
धर्मो द्वीपः प्रतिष्ठा च, गतिः शरणमुत्तमम् ॥२१॥

५२६. माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ॥२२॥
मानुष्यं विग्रहं लब्ध्वा, श्रुतिर्धर्मस्य दुर्लभा ।
यं श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते, तपः क्षान्तिमहिंस्रताम् ॥२२॥

५२७. आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा ।
सोच्चा नेआउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई ॥२३॥
आहत्य श्रवणं लब्ध्वा, श्रद्धा परमदुर्लभा ।
श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं बहवः परिभ्रश्यन्ति ॥२३॥

५२१. मांस और हड्डी के मेल से निर्मित, मल-मूत्र से भरे, नौ छिद्रो के द्वारा अशुचि पदार्थ को वहानेवाले शरीर मे क्या सुख हो सकता है ?

५२२ मोह के उदय से उत्पन्न होनेवाले इन सब भावो को त्यागने योग्य जानकर उपशम (साम्य) भाव मे लीन मुनि इनका त्याग कर देता है । यह उसकी आस्रव अनुप्रेक्षा है ।

५२३. तीन गुप्तियो के द्वारा इन्द्रियो को वश मे करनेवाला तथा पच समितियो के पालन मे अप्रमत्त मुनि के आस्रवद्वारो का निरोध हो जाने पर नवीन कर्म-रज का आस्रव नही होता है । यह सवर अनुप्रेक्षा है ।

५२४ लोक को नि सार तथा ससार को दीर्घ गमनरूप जानकर मुनि प्रयत्नपूर्वक लोक के सर्वोच्च अग्रभाग मे स्थित मुक्तिपद का ध्यान करता है, जहाँ मुक्त (सिद्ध) जीव सुखपूर्वक सदा निवास करते है ।

५२५. जरा और मरण के तेज प्रवाह मे वहते-डूवते हुए प्राणियो के लिए धर्म ही द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है तथा उत्तम शरण है ।

५२६. (प्रथम तो चतुर्गतियो मे भ्रमण करनेवाले जीव को मनुष्य-शरीर ही मिलना दुर्लभ है, फिर) मनुष्य-शरीर प्राप्त होने पर भी ऐसे धर्म का श्रवण तो और भी कठिन है, जिसे सुनकर तप, क्षमा और अहिसा को प्राप्त किया जाय ।

५२७. कदाचित् धर्म का श्रवण हो भी जाये, तो उस पर श्रद्धा होना महा कठिन है । क्योकि वहुत-से लोग न्यायसगत मोक्षमार्ग का श्रवण करके भी उससे विचलित हो जाते है ।

५२८. सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि, नो एणं पडिवज्जए ॥२४॥
श्रुतिं च लब्ध्वा श्रद्धां च, वीर्यं पुनर्दुर्लभम्।
बहवो रोचमाना अपि, नो च तत् प्रतिपद्यन्ते ॥२४॥

५२९. भावणाजोग-सुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसंपण्णा, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥२५॥
भावनायोगशुद्धात्मा, जले नौरिव आख्यातः।
नौरिव तीरसम्पन्ना, सर्वदुःखात् त्रुट्यति ॥२५॥

५३०. बारस अणुवेक्खाओ, पच्चक्खाणं तहेव पडिक्कमणं।
आलोयणं समाही, तम्हा भावेज्ज अणुवेक्खं ॥२६॥
द्वादशानुप्रेक्षाः, प्रत्याख्यानं तथैव प्रतिक्रमणम्।
आलोचनं समाधिः, तस्मात् भावयेत् अनुप्रेक्षाम् ॥२६॥

३१. लेश्यासूत्र

५३१. होंति कमविसुद्धाओ, लेसाओ पीयपम्हसुक्काओ।
धम्मज्झाणोवगयस्स, तिव्व-मंदाइभेयाओ ॥१॥
भवन्ति क्रमविशुद्धाः, लेश्याः पीतपद्मशुक्लाः।
धर्मध्यानोपगतस्य, तीव्रमन्दादि-भेदाः ॥१॥

५३२. जोगपउत्ती लेस्सा, कसायउदयाणुरंजिया होई।
तत्तो दोण्हं कज्जं, बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं ॥२॥
योगप्रवृत्तिर्लेश्या, कषायोदयानुरञ्जिता भवति।
ततः द्वयोः कार्यं, बन्धचतुष्कं समुद्दिष्टम् ॥२॥

५३३. किण्हा णीला काऊ, तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा य।
लेस्साणं णिद्देसा, छच्चेव हवंति णियमेण ॥३॥
कृष्णा नीला कापोता, तेजः पद्मा च शुक्ललेश्या च।
लेश्यानां निर्देशात्, षट् चैव भवन्ति नियमेन ॥३॥

५२८. धर्म-श्रवण तथा (उसके प्रति) श्रद्धा हो जाने पर भी सयम मे पुरुषार्थ होना अत्यन्त दुर्लभ है। बहुत-से लोग संयम मे अभिरुचि रखते हुए भी उसे सम्यक्रूपेण स्वीकार नही कर पाते।

५२९. भावना-योग से शुद्ध आत्मा को जल मे नौका के समान कहा गया है। जैसे अनुकूल पवन का सहारा पाकर नौका किनारे पर पहुँच जाती है, वैसे ही शुद्ध आत्मा ससार के पार पहुँचती है, जहाँ उसके समस्त दु खो का अन्त हो जाता है।

५३०. अत बारह अनुप्रेक्षाओं का तथा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना एव समाधि का वारम्बार चिन्तवन करते रहना चाहिए।

३१. लेश्यासूत्र

५३१. धर्मध्यान से युक्त मुनि के क्रमश विशुद्ध पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याएँ होती है। इन लेश्याओ के तीव्र-मन्द के रूप मे अनेक प्रकार है।

५३२. कषाय के उदय से अनुरंजित मन-वचन-काय की योग-प्रवृत्ति को लेश्या कहते है। इन दोनो अर्थात् कषाय और योग का कार्य है चार प्रकार का कर्म-बन्ध। कषाय से कर्मो के स्थिति और अनुभाग बन्ध होते है, योग से प्रकृति और प्रदेश-बन्ध।

५३३ लेश्याएँ छह प्रकार की है—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोत-लेश्या, तेजोलेश्या (पीतलेश्या,) पद्मलेश्या और शुक्ललश्या।

५३४. किण्हा नीला काऊ, तिण्णि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जई बहुसो ॥४॥
कृष्णा नीला कापोता, तिस्रोऽप्येता अधर्मलेश्याः ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवो, दुर्गतिमुपपद्यते बहुशः ॥४॥

५३५. तेऊ पम्हा सुक्का, तिण्णि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जई बहुसो ॥५॥
तेजः पद्मा शुक्ला, तिस्रोऽप्येता धर्मलेश्याः ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवः, सुगतिमुपपद्यते बहुशः ॥५॥

५३६. तिव्वतमा तिव्वतरा, तिव्वा असुहा सुहा तहा मंदा ।
मंदतरा मंदतमा, छट्ठाणगया हु पत्तेयं ॥६॥
तीव्रतमास्तीव्रतरा-स्तीव्रा अशुभाः शुभास्तथा मन्दाः ।
मन्दतरा, मन्दतमाः, षट्स्थानगता हि प्रत्येकम् ॥६॥

५३७-५३८. पहिया जे छ प्पुरिसा, परिभट्ठारण्णमज्झदेसम्हि ।
फलभरियरुक्खमेगं, पेक्खित्ता ते विचिंतंति ॥७॥
णिम्मूलखंधसाहु-वसाहं छित्तुं चिणित्तु पडिदाइं ।
खाउं फलाइं इदि, जं मणेण वयणं हवे कम्मं ॥८॥
पथिका ये षट् पुरुषाः, परिभ्रष्टा अरण्यमध्यदेशे ।
फलभरितवृक्षमेकं, प्रेक्ष्य ते विचिन्तयन्ति ॥७॥
निर्मूलस्कन्धशाखोपशाखं छित्वा चित्वा पतितानि ।
खादितुं फलानि इति, यन्मनसा वचनं भवेत् कर्म ॥८॥

५३४ कृष्ण, नील और कापोत ये तीनो अधर्म या अशुभ लेश्याएँ हैं। इनके कारण जीव विविध दुर्गतियो मे उत्पन्न होता है।

५३५ पीत (तेज), पद्म और शुक्ल ये तीनो धर्म या शुभ लेश्याएँ हैं। इनके कारण जीव विविध सुगतियो मे उत्पन्न होता है।

५३६ कृष्ण, नील और कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं मे से प्रत्येक के तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र ये तीन भेद होते हैं। शेष तीन शुभ लेश्याओं मे से प्रत्येक के मन्द, मन्दतर और मन्दतम ये तीन भेद होते हैं। तीव्र और मन्द की अपेक्षा से प्रत्येक मे अनन्त भाग-वृद्धि, असख्यात भाग-वृद्धि, सख्यात भाग-वृद्धि, सख्यात गुण-वृद्धि, असख्यात गुण-वृद्धि, अनन्त गुण-वृद्धि ये छह वृद्धियाँ और इन्ही नाम की छह हानियाँ सदैव होती रहती हैं। इसी कारण लेश्याओ के भेदो मे भी उतार-चढाव होता रहता है।

५३७-५३८ छह पथिक थे। जगल के बीच जाने पर वे भटक गये। भूख सताने लगी। कुछ देर बाद उन्हे फलो से लदा एक वृक्ष दिखाई दिया। उनकी फल खाने की इच्छा हुई। वे मन ही मन विचार करने लगे। एक ने सोचा कि पेड को जड-मूल से काटकर इसके फल खाये जायँ। दूसरे ने सोचा कि केवल स्कन्ध ही काटा जाय। तीसरे ने विचार किया कि शाखा ही तोडना ठीक रहेगा। चौथा सोचने लगा कि उपशाखा (छोटी डाल) ही तोड ली जाय। पाँचवाँ चाहता था कि फल ही तोडे जायँ। छठे ने सोचा कि वृक्ष से टपककर नीचे गिरे हुए पके फल ही चुनकर क्यो न खाये जायें। इन छहो पथिको के विचार, वाणी तथा कर्म क्रमश: छहो लेश्याओ के उदाहरण हैं।

५३९. चंडो ण मुंचइ वेरं, भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ ।
दुट्ठो ण य एदि वसं, लक्खणमेयं तु किण्हस्स ॥९॥
चण्डो न मुञ्चति वैरं, भण्डनशीलश्च धर्मदयारहितः ।
दुष्टो न चैति वशं, लक्षणमेतत्तु कृष्णस्य ॥९॥

५४०. मंदो बुद्धिविहीणो, णिव्विणाणी य विसयलोलो य ।
लक्खणमेयं भणियं, समासदो णीललेस्सस्स ॥१०॥
मन्दो बुद्धिविहीनो, निर्विज्ञानी च विषयलोलश्च ।
लक्षणमेतद् भणितं, समासतो नीललेश्यस्य ॥१०॥

५४१. रूसइ णिंदइ अन्ने, दूसइ बहुसो य सोयभयबहुलो ।
ण गणइ कज्जाकज्जं, लक्खणमेयं तु काउस्स ॥११॥
रुष्यति निन्दति अन्यान्, दूषयति बहुशश्च शोकभयबहुलः ।
न गणयति कार्याकार्यं, लक्षणमेतत् तु कापोतस्य ॥११॥

५४२. जाणइ कज्जाकज्जं, सेयमसेयं च सव्वसमपासी ।
दयदाणरदो य मिदू, लक्खणमेयं तु तेउस्स ॥१२॥
जानाति कार्याकार्यं, श्रेयः अश्रेयः च सर्वसमदर्शी ।
दयादानरतश्च मृदुः, लक्षणमेतत् तु तेजसः ॥१२॥

५४३. चागी भद्दो चोक्खो, अज्जवकम्मो य खमदि बहुगं पि ।
साहुगुरुपूजणरदो, लक्खणमेयं तु पम्मस्स ॥१३॥
त्यागी भद्रः चोक्षः, आर्जवकर्मा च क्षमते बहुकमपि ।
साधुगुरुपूजनरतो, लक्षणमेतत् तु पद्मस्य ॥१३॥

५४४. ण य कुणइ पक्खवायं, ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसिं ।
णत्थि य रायद्दोसा, णेहो वि य सुक्कलेस्सस्स ॥१४॥
न च करोति पक्षपातं, नापि च निदानं समश्च सर्वेषाम् ।
न स्तः च रागद्वेषौ, स्नेहोऽपि च शुक्ललेश्यस्य ॥१४॥

५४५. लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जीवस्स ।
अज्झवसाणविसोधिं, मंदकसायस्स णायव्वा ॥१५॥
लेश्याशुद्धिः अध्यवसानविशुद्ध्या भवति जीवस्य ।
अध्यवसानविशुद्धिः, मन्दकषायस्य ज्ञातव्या ॥१५॥

५३९. स्वभाव की प्रचण्डता वैर की मजबूत गांठ, झगड़ाल वृत्ति, धर्म और दया से शून्यता, दुष्टता, समझाने से भी नहीं मानना, ये कृष्णलेश्या के लक्षण हैं।

५४०. मन्दता, बुद्धिहीनता, अज्ञान और विषयलोलुपता—ये संक्षेप में नीललेश्या के लक्षण हैं।

५४१. जल्दी रुष्ट हो जाना, दूसरों की निन्दा करना, दोष लगाना, अति शोकाकुल होना, अत्यन्त भयभीत होना—ये कापोतलेश्या के लक्षण हैं।

५४२. कार्य-अकार्य का ज्ञान, श्रेय-अश्रेय्य का विवेक, सबके प्रति समभाव, दया-दान में प्रवृत्ति—ये पीत या तेजोलेश्या के लक्षण हैं।

५४३. त्यागशीलता, परिणामों में भद्रता, व्यवहार में प्रामाणिकता, कार्य में ऋजुता, अपराधियों के प्रति क्षमाशीलता, साधु-गुरुजनों की पूजा-सेवा में तत्परता—ये पद्मलेश्या के लक्षण हैं।

५४४. पक्षपात न करना, भोगों की आकांक्षा न करना, सबमें समदर्शी रहना, राग, द्वेष तथा प्रणय से दूर रहना—शुक्ललेश्या के लक्षण हैं।

५४५ आत्मपरिणामों में विशुद्धि आने से लेश्या की विशुद्धि होती है और कषायों की मन्दता से परिणाम विशुद्ध होते हैं।

३२. आत्मविकाससूत्र (गुणस्थान)

५४६. जेहिं दु लक्खिज्जंते, उदयादिसु संभवेहि भावेहि ।
जीवा ते गुणसण्णा, णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं ॥१॥
यैस्तु लक्ष्यन्ते, उदयादिषु सम्भवैर्भावैः ।
जीवास्ते गुणसंज्ञा, निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः ॥१॥

५४७-५४८. मिच्छो सासण मिस्सो, अविरदसम्मो य देसविरदो य ।
विरदो पमत्त इयरो, अपुव्व अणियट्टि सुहुमो य ॥२॥
उवसंत खीणमोहो, सजोगिकेवलिजिणो अजोगी य ।
चोद्दस गुणट्ठाणाणि य, कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥३॥
मिथ्यात्व सास्वादन मिश्र, अविरतसम्यक्त्व च देशविरतश्च ।
विरत प्रमत्त इतर, अपूर्व अनिवृत्ति सूक्ष्मश्च ॥२॥
उपशान्त क्षीणमोह, सयोगिकेवलिजिन अयोगी च ।
चतुर्दश गुणस्थानानि च क्रमेण सिद्धा च ज्ञातव्या ॥३॥

५४९. तं मिच्छत्त जमसद्दहणं, तच्चाण होदि अत्थाणं ।
ससइदमभिग्गहियं, अणभिग्गहियं तु त तिविहं ॥४॥
तद् मिथ्यात्व यदश्रद्धान, तत्त्वाना भवति अर्थानाम् ।
सशयितमभिगृहीतम-नभिगृहीत तु तत् त्रिविधम् ॥४॥

५५०. सम्मत्तरयणपव्वय-सिहरादो मिच्छभावसमभिमुहो ।
णासियसम्मत्तो सो, सासणणामो मुणेयव्वो ॥५॥
सम्यक्त्वरत्नपर्वत-शिखरात् मिथ्याभावसमभिमुखः ।
नाशितसम्यक्त्व सः, सास्वादननामा मन्तव्य ॥५॥

५५१. दहिगुडमिव व मिस्सं, पिहुभाव णेव कारिदुं सक्कं ।
एवं मिस्सयभावो, सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो ॥६॥
दधिगुडमिव व्यामिश्र, पृथग्भाव नैव कर्तुं शक्यम् ।
एव मिश्रकभाव, सम्यक्मिथ्यात्वमिति ज्ञातव्यम् ॥६॥

५५२. णो इंदिएसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे चावि ।
जो सद्दहइ जिणत्तं, सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥७॥
नो इन्द्रियेषु विरतो, नो जीवे स्थावरे त्रसे चापि ।
य श्रद्दधाति जिनोक्त, सम्यग्दृष्टिरविरत स ॥७॥

३२. आत्मविकाससूत्र

५४६ मोहनीय आदि कर्मों के उदय आदि (उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि) से होनेवाले जिन परिणामो से युक्त जीव पहचाने जाते है, उनको सर्वदर्शी जिनेन्द्रदेव ने 'गुण' या 'गुणस्थान' सज्ञा दी है। अर्थात् सम्यक्त्व आदि की अपेक्षा जीवो की अवस्थाएँ–श्रेणियाँ–भूमिकाएँ गुणस्थान कहलाती है।

५४७–५४८. मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म-साम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवलीजिन, अयोगि-केवलीजिन–ये क्रमश चौदह जीव-समास या गुणस्थान है। सिद्धजीव गुणस्थानातीत होते है।

५४९. तत्त्वार्थ के प्रति श्रद्धा का अभाव मिथ्यात्व है। यह तीन प्रकार का है—संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत।

५५०. सम्यक्त्व-रत्नरूपी पर्वत के शिखर से गिरकर जो जीव मिथ्यात्व भाव के अभिमुख हो गया है—मिथ्यात्व की ओर मुड गया है, परन्तु (सम्यक्त्व के नष्ट हो जाने पर भी) जिसने अभी साक्षात्‌रूपेण मिथ्यात्वभाव मे प्रवेश नही किया है, उस मध्यवर्ती अवस्था को सासादन नामक गुणस्थान कहते है।

५५१. दही और गुड के मेल के स्वाद की तरह सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिश्रित भाव या परिणाम—जिसे अलग नही किया जा सकता, सम्यक्-मिथ्यात्व या मिश्र गुणस्थान कहलाता है।

५५२. जो न तो इन्द्रिय-विषयो से विरत है और न त्रस-स्थावर जीवो की हिसा से विरत है, लेकिन केवल जिनेन्द्र-प्ररूपित तत्त्वार्थ का श्रद्धान करता है, वह व्यक्ति अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान वर्ती कहलाता है।

५५३. जो तसवहाउविरदो, णो विरओ एत्थ-थावरवहाओ ।
पडिसमयं सो जीवो, विरयाविरओ जिणेक्कमई ॥८॥
यस्त्रसवधाद्विरत, नो विरत अत्र स्थावरवधात् ।
प्रतिसमय स जीवो, विरताविरतो जिनैकमति ॥८॥

५५४. वत्तावत्तपमाए, जो वसइ पमत्तसंजओ होइ ।
सयलगुणसीलकलिओ, महव्वई चित्तलायरणो ॥९॥
व्यक्ताव्यक्तप्रमादे, यो वसति प्रमत्तसयतो भवति ।
सकलगुणशीलकलितो, महाव्रती चित्रलाचरण ॥९॥

५५५. णट्ठासेसपमाओ, वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अखवओ, झाणणिलीणो हु अप्पमत्तो सो ॥१०॥
नष्टाशेषप्रमादो, व्रतगुणशीलावलिमण्डितो ज्ञानी ।
अनुपशमक अक्षपको, ध्याननिलीनो हि अप्रमत्त स ॥१०॥

५५६. एयम्मि गुणट्ठाणे, विसरिससमयट्ठिएहिं जीवेहिं ।
पुव्वमपत्ता जम्हा, होंति अपुव्वा हु परिणामा ॥११॥
एतस्मिन् गुणस्थाने, विसदृशसमयस्थितैर्जीवै ।
पूर्वमप्राप्ता यस्मात्, भवन्ति अपूर्वा हि परिणामा ॥११॥

५५७. तारिसपरिणामट्ठियजीवा, हु जिणेहिं गलियतिमिरेहिं ।
मोहस्सऽपुव्वकरणा, खवणुवसमणुज्जया भणिया ॥१२॥
तादृशपरिणामस्थितजीवा, हि जिनैर्गलिततिमिरै ।
मोहस्यापूर्वकरणा, क्षपणोपशमनोद्यता भणिता ॥१२॥

५५३. जो त्रस जीवो की हिंसा से तो विरत हो गया है, परन्तु एकेन्द्रिय स्थावर जीवो (वनस्पति, जल, भूमि, अग्नि, वायु) की हिंसा से विरत नही हुआ है तथा एकमात्र जिन भगवान् मे ही श्रद्धा रखता है, वह श्रावक देशविरत गुणस्थानवर्ती कहलाता है।

५५४. जिसने महाव्रत धारण कर लिये हैं, सकल शील-गुण से समन्वित हो गया है, फिर भी अभी जिसमे व्यक्त-अव्यक्तरूप मे प्रमाद शेष है, वह प्रमत्तसयत गुणस्थानवर्ती कहलाता है। इसका व्रताचरण किंचित् सदोष होता है।

५५५. जिसका व्यक्त-अव्यक्त सम्पूर्ण प्रमाद नि शेष हो गया है, जो ज्ञानी होने के साथ-साथ व्रत, गुण और शील की माला से सुशोभित है, फिर भी जो न तो मोहनीय कर्म का उपशम करता है और न क्षय करता है—केवल आत्मध्यान मे लीन रहता है, वह श्रमण अप्रमत्तसयत गुण-स्थानवर्ती कहलाता है। [विशेप ज्ञातव्य : अप्रमत्तसयत गुणस्थान से आगे दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं—उपशम और क्षपक। उपशम श्रेणीवाला तपस्वी मोहनीय कर्म का उपशम करते हुए ग्यारहवे गुणस्थान तक चढने पर पुन. मोहनीय कर्म का उदय होने से नीचे गिर जाता है और दूसरा क्षपक श्रेणीवाला मोहनीय कर्म का समूल क्षय करते हुए आगे वढता जाता है और मोक्ष प्राप्त करता है।]

५५६. इस आठवे गुणस्थान मे विसदृश (विभिन्न) समयो मे स्थित जीव ऐसे-ऐसे अपूर्व परिणामो (भावो) को धारण करते हैं, जो पहले कभी भी नही हो पाये थे। इसीलिए इसका नाम अपूर्वकरण गुणस्थान है।

५५७. अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाले (ज्ञानसूर्य) जिनेन्द्रदेव ने उन अपूर्व-परिणामी जीवो को मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम करने मे तत्पर कहा है। (मोहनीय कर्म का क्षय व उपशम तो नौवे और दसवे गुण-स्थानो मे होता है, किन्तु उसकी तैयारी इस अष्टम गुणस्थान मे ही शुरू हो जाती है।)

५५८. होंति अणियट्टिणो ते, पडिसमयं जेसिमेक्कपरिणामा ।
विमलयरझाणहुयवह-सिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा ।।१३।।
भवन्ति अनिर्वातनस्ते, प्रतिसमय येपामेकपरिणामा ।
विमलतरध्यानहुतवह-शिखाभिर्निर्दग्धकर्मवना ।।१३।।

५५९. कोसुंभो जिह राओ, अब्भंतरदो य सुहुमरत्तो य ।
एवं सुहुमसराओ, सुहुमकसाओ त्ति णायव्वो ।।१४।।
कौसुम्भ यथा राग, अभ्यन्तरत च सूक्ष्मरक्त च ।
एव सूक्ष्मसराग, सूक्ष्मकपाय इति ज्ञातव्य ।।१४।।

५६०. सकदकफलजलं वा, सरए सरवाणिय व णिम्मलयं ।
सयलोवसंतमोहो, उवसंतकसायओ होदि ।।१५।।
कतकफलयुतजल वा, शरदि सर पानीयम् इव निर्मलकम् ।
सकलोपशान्तमोह, उपशान्तकपायतो भवति ।।१५।।

५६१. णिस्सेसखीणमोहो, फलिहामलभायणुदय-समचित्तो ।
खीणकसाओ भण्णइ, णिग्गंथो वीयराएहिं ।।१६।।
नि शेपक्षीणमोह, स्फटिकामल-भाजनोदक-समचित्त ।
क्षीणकपायो भण्यते, निर्ग्रन्थो वीतरागै ।।१६।।

५६२–५६३. केवलणाणदिवायर-किरणकलाव-प्पणासिअण्णाणो ।
णवकेवललद्धुग्गम-पावियपरमप्पववएसो ।।१७।।
असहायणाणदंसण-सहिओ वि हु केवली हु जोएण ।
जुत्तो त्ति सजोइजिणो, अणाइणिहणारिसे वुत्तो ।।१८।।
केवलज्ञानदिवाकर-किरणकलाप-प्रणाशिताज्ञान. ।
नवकेवललब्ध्युद्गम-प्रापितपरमात्मव्यपदेश ।।१७।।
असहायज्ञानदर्शन-सहितोऽपि हि केवली हि योगेन ।
युक्त इति सयोगिजिन , अनादिनिधन आर्षे उक्त ।।१८।।

५६४. सेलेसिं संपत्तो, णिरुद्धणिस्सेस-आसओ जीवो ।
कम्मरयविप्पमुक्को, गयजोगो केवली होइ ।।१९।।
शैलेशी सप्राप्त, निरुद्धनि शेपास्रवो जीव ।
कर्मरजविप्रमुक्तो, गतयोग केवली भवति ।।१९।।

५५८ वे जीव अनिवृत्तिकरण गुणस्थान वाले होते है, जिनके प्रतिसमय (निरन्तर) एक ही परिणाम होता है। (इनके भाव अष्टम गुणस्थान वालो की तरह विसदृश नही होते।) ये जीव निर्मलतर ध्यानरूपी अग्नि-शिखाओ से कर्म-वन को भस्म कर देते है।

५५९. कुसुम्भ के हल्के रग की तरह जिनके अन्तरग मे केवल सूक्ष्म राग शेष रह गया है, उन मुनियो को सूक्ष्म-सराग या सूक्ष्म-कषाय जानना चाहिए।

५६० जैसे निर्मली-फल से युक्त जल अथवा शरदकालीन सरोवर का जल (मिट्टी के बैठ जाने से) निर्मल होता है, वैसे ही जिनका सम्पूर्ण मोह उपशान्त हो गया है, वे निर्मल परिणामी उपशात-कषाय कहलाते है। (फिर भी जैसे जल के हिल जाने से बैठी हुई मिट्टी ऊपर आ जाती है, वैसे ही मोह के उदय से यह उपशान्तकषाय श्रमण स्थानच्युत होकर सूक्ष्म-सराग दशा मे पहुँच जाता है।)

५६१ सम्पूर्ण मोह पूरी तरह नष्ट हो जाने से जिनका चित्त स्फटिकमणि के पात्र मे रखे हुए स्वच्छ जल की तरह निर्मल हो जाता है, उन्हे वीतरागदेव ने क्षीण-कषाय निर्ग्रन्थ कहा है।

५६२-५६३ केवलज्ञानरूपी दिवाकर की किरणो के समूह से जिनका अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो जाता है तथा नौ केवललब्धियो (सम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, दान, लाभ, भोग व उपभोग) के प्रकट होने से जिन्हे परमात्मा की सज्ञा प्राप्त हो जाती है, वे इन्द्रियादि की सहायता की अपेक्षा न रखनेवाले ज्ञान-दर्शन से युक्त होने के कारण केवली और काय योग से युक्त होने के कारण सयोगी केवली (तथा घाति-कर्मों के विजेता होने के कारण) जिन कहलाते है। ऐसा अनादिनिधन जिनागम मे कहा गया है।

५६४. जो शील के स्वामी है, जिनके सभी नवीन कर्मों का आस्रव अवरुद्ध हो गया है, तथा जो पूर्वसचित कर्मों से (बन्ध से) सर्वथा मुक्त हो चुके है, वे अयोगीकेवली कहलाते है।

५६५. सो तम्मि चेव समये, लोयग्गे उड्ढगमणसब्भाओ ।
संचिट्ठइ असरीरो, पवरट्ठ गुणप्पओ णिच्चं ॥२०॥
सो तस्मिन् चैव समये, लोकाग्रे ऊर्ध्वगमनस्वभाव ।
सचेष्टते अशरीर, प्रवराष्टगुणात्मको नित्यम् ॥२०॥

५६६. अट्ठविहकम्मवियडा, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।
अट्ठगुणा कयकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥२१॥
अष्टविधकर्मविकला, शीतीभूता निरञ्जना नित्या ।
अष्टगुणा कृतकृत्या, लोकाग्रनिवासिन सिद्धा ॥२१॥

३३. संलेखनासूत्र

५६७. सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥१॥
शरीरमाहुर्नौरिति, जीव उच्यते नाविक. ।
ससारोऽर्णव उक्त., य तरन्ति महर्षय ॥१॥

५६८. वहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि ।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥२॥
वाह्यमूर्ध्वमादाय, नावकाङ्क्षेत् कदाचिद् अपि ।
पूर्वकर्मक्षयार्थाय, इम देह समुद्धरेत् ॥२॥

५६९. धीरेण वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्समरियव्वं ।
तम्हा अवस्समरणे, वरं खु धीरत्तणे मरिउं ॥३॥
धीरेणापि मर्त्तव्य, कापुरुषेणाप्यवश्यमर्तव्यम् ।
तस्मात् अवश्यमरणे, वर खलु धीरत्वे मर्त्तुम् ॥३॥

५७०. इक्कं पंडियमरणं, छिंदइ जाईसयाणि वहुयाणि ।
तं मरणं मरियव्वं, जेण मओ सुम्मओ होइ ॥४॥
एक पण्डितमरण, छिनत्ति जातिशतानि वहुकानि ।
तद् मरणे मर्त्तव्य, येन मृत. सुमृत भवति ॥४॥

५६५. इस (चौदहवे) गुणस्थान को प्राप्त कर लेने के उपरान्त उसी समय ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला वह अयोगीकेवली अशरीरी तथा उत्कृष्ट आठगुण सहित होकर सदा के लिए लोक के अग्रभाग पर चला जाता है। (उसे सिद्ध कहते है।)

५६६ सिद्ध जीव अष्टकर्मो से रहित, सुखमय, निरजन, नित्य, अष्ट-गुण-सहित तथा कृतकृत्य होते है और सदैव लोक के अग्रभाग मे निवास करते है।

३३. संलेखनासूत्र

५६७ शरीर को नाव कहा गया है और जीव को नाविक। यह ससार समुद्र है, जिसे महर्षिजन तैर जाते है।

५६८. ऊर्ध्व अर्थात् मुक्ति का लक्ष्य रखनेवाला साधक कभी भी बाह्य विषयो की आकाक्षा न रखे। पूर्वकर्मो का क्षय करने के लिए ही इस शरीर को धारण करे।

५६९ निश्चय ही धैर्यवान् को भी मरना है और कापुरुष को भी मरना है। जब मरण अवश्यम्भावी है, तो फिर धीरतापूर्वक मरना ही उत्तम है।

५७०. एक पण्डितमरण (ज्ञानपूर्वक मरण) सैकड़ो जन्मो का नाश कर देता है। अत इस तरह मरना चाहिए, जिससे मरण सुमरण हो जाय।

५७१. इक्कं पंडियमरणं, पडिवज्जइ सुपुरिसो असंभंतो ।
खिप्पं सो मरणाणं, काहिइ अंतं अणंताणं ॥५॥
एक पण्डितमरण, प्रतिपद्यते सुपुरुप असम्भ्रान्त ।
क्षिप्र स मरणाना, करिप्यति अन्तम् अनन्तानाम् ॥५॥

५७२. चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मन्नमाणो ।
लाभंतरे जीविय वूहइत्ता, पच्छा परिण्णाय मलावधंसी ॥६॥
चरेत्पदानि परिशङ्कमान , यत्किंचित्पाशमिह मन्यमान ।
लाभान्तरे जीवितं वृंहयित्वा, पश्चात्परिज्ञाय मलावध्वसी ॥६॥

५७३. तस्स ण कप्पदि भत्त-पइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो ।
सो मरणं पत्थितो, होदि हु सामण्णणिव्विण्णो ॥७॥
तस्य न कल्पते भक्त-प्रतिज्ञा अनुपस्थिते भय पुरत ।
सो मरण प्रेक्षमाण, भवति हि श्रामण्यनिर्विण्ण ॥७॥

५७४. संलेहणा य दुविहा, अब्भिंतरिया य बाहिरा चेव ।
अब्भितरिया कसाए, बाहिरिया होइ य सरीरे ॥८॥
सलेखना च द्विविधा, अभ्यन्तरिका च बाह्या चैव ।
अभ्यन्तरिका कपाये, बाह्या भवति च शरीरे ॥८॥

५७५. कसाए पयणूए किच्चा, अप्पाहारे तितिक्खए ।
अह भिक्खू गिलाएज्जा, आहारस्सेव अन्तियं ॥९॥
कपायान् प्रतनून् कृत्वा, अल्पाहार तितिक्षते ।
अथ भिक्षुर्ग्लायेत्, आहारस्येव अन्तिकम् ॥९॥

५७६. न वि कारणं तणमओ संथारो, न वि य फासुया भूमी ।
अप्पा खलु संथारो, होइ विसुद्धो मणो जस्स ॥१०॥
नापि कारण तृणमय सस्तार, नापि च प्रासुका भूमि. ।
आत्मा खलु सस्तारो भवति, विशुद्ध मनो यस्य ॥१०॥

५७७-५७८. न वि तं सत्थं च विसं च, दुप्पउतु व्व कुणइ वेयालो ।
जंतं व दुप्पउत्तं, सप्पु व्व पमाइणो कुद्धो ॥११॥
जं कुणइ भावसल्लं, अणुद्धियं उत्तमट्ठकालम्मि ।
दुल्लहबोहीयत्तं, अणंतसंसारियत्तं च ॥१२॥

५७१. असम्भ्रान्त (निर्भय) सत्पुरुष एक पण्डितमरण को प्राप्त होता है और शीघ्र ही अनन्त-मरण का—बार-बार के मरण का अन्त कर देता है ।

५७२. साधक पग-पग पर दोषो की आशका (सम्भावना) को ध्यान मे रखकर चले । छोटे से छोटे दोष को भी पाश समझे, उससे सावधान रहे । नये-नये लाभ के लिए जीवन को सुरक्षित रखे । जब जीवन तथा देह से लाभ होता हुआ दिखाई न दे तो परिज्ञानपूर्वक शरीर का त्याग कर दे ।

५७३ (किन्तु) जिसके सामने (—अपने सयम, तप आदि साधना का) कोई भय या किसी भी तरह की क्षति की आशका नही है, उसके लिए भोजन का परित्याग करना उचित नही है । यदि वह (फिर भी भोजन का त्याग कर) मरना ही चाहता है तो कहना होगा कि वह मुनित्व से ही विरक्त हो गया है ।

५७४ सलेखना दो प्रकार की है—आभ्यन्तर और बाह्य । कषायो को कृश करना आभ्यन्तर सलेखना है और शरीर को कृश करना बाह्य सलेखना है ।

५७५. (संलेखना धारण करनेवाला साधु) कषायो को कृश करके धीरे-धीरे आहार की मात्रा घटायें । यदि वह रोगी है—शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया है तो आहार का सर्वथा त्याग कर दे ।

५७६ जिसका मन विशुद्ध है, उसका सस्तारक* न तो तृणमय है और न प्रासुक भूमि है । उसकी आत्मा ही उसका सस्तारक है ।

५७७-५७८. दुष्प्रयुक्त शस्त्र, विष, भूत तथा दुष्प्रयुक्त यन्त्र तथा क्रुद्ध सर्प

---

* सलेखना-धारी के लिए प्रासुक भूमि मे तृणो का सस्तारक लगाया जाता है, जिस पर वह विश्राम करता है । इसीको लक्ष्य करके यह भाव-कथन किया गया है ।

५७७-५७८. तत् शस्त्र च विप च, दुष्प्रयुक्तो वा करोति वैताल ।
यन्त्र वा दुष्प्रयुक्त, सर्पो वा प्रमादिन. क्रुद्ध ॥११॥
यत् करोति भावशल्य-मनुद्धृतमुत्तमार्थकाले ।
दुर्लभवोधिकत्वम्, अनन्तससारिकत्व च ॥१२॥

५७९. तो उद्धरंति गारवरहिया, मूलं पुणव्भवलयाणं ।
मिच्छादंसणसल्लं, मायासल्लं नियाणं च ॥१३॥
तदुद्धरन्ति गौरवरहिता, मूल पुनर्भवलतानाम् ।
मिथ्यादर्शनशल्य, मायाशल्य निदान च ॥१३॥

५८०. मिच्छद्दंसणरत्ता, सनियाणा कण्हलेसमोगाढा ।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं दुलहा भवे बोही ॥१४॥
मिथ्यादर्शनरक्ता, सनिदाना. कृष्णलेश्यामवगाढा ।
इति ये म्रियन्ते जीवा–स्तेपा दुर्लभा भवेद् वोधि ॥१४॥

५८१. सम्मद्दंसणरत्ता, अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा भवे बोही ॥१५॥
सम्यग्दर्शनरक्ता अनिदाना शुक्ललेश्यामवगाढा ।
इति ये म्रियन्ते जीवा–स्तेपा सुलभा भवेद् वोधिः ॥१५॥

५८२. आराहणाए कज्जे, परियम्मं सव्वदा वि कायव्वं ।
परियम्मभाविदस्स हु, सुहसज्झाऽऽराहणा होइ ॥१६॥
आराधनाया कार्ये, परिकर्म सर्वदा अपि कर्त्तव्यम् ।
परिकर्मभावितस्य खलु, सुखसाध्या आराधना भवति ॥१६॥

५८३-५८४. जह रायकुलपसूओ, जोग्गं णिच्चमवि कुणइ परिकम्मं ।
तो जिदकरणो जुद्धे, कम्मसमत्थो भविस्सदि हि ॥१७॥
इय सामण्णं साधूवि, कुणदि णिच्चमवि जोगपरियम्मं ।
तो जिदकरणो मरणे, ज्झाणसमत्थो भविस्सति ॥१८॥
यथा राजकुलप्रसूतो, योग्य नित्यमपि करोति परिकर्म्म ।
तत जितकरणो युद्धे, कर्मसमर्थो भविष्यति हि ॥१७॥
एव श्रामण्य साधुरपि, करोति नित्यमपि योगपरिकर्म्म ।
तत जितकरण मरणे, ध्यानसमर्थो भविष्यति ॥१८॥

आदि प्रमादी का उतना अनिष्ट नही करते, जितना अनिष्ट समाधिकाल मे मन मे रहे हुए माया, मिथ्यात्व व निदान शल्य करते है। इससे बोधि की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है तथा संसार का अन्त नही होता।

५७९ अत. अभिमान-रहित साधक पुनर्जन्मरूपी लता के मूल अर्थात् मिथ्यादर्शनशल्य, मायाशल्य व निदानशल्य को अन्तरग से निकाल फेकते है।

५८०. इस ससार मे जो जीव मिथ्यादर्शन मे अनुरक्त होकर निदान-पूर्वक तथा कृष्णलेश्या की प्रगाढ़तासहित मरण को प्राप्त होते है, उनके लिए बोधि-लाभ दुर्लभ है।

५८१ जो जीव सम्यग्दर्शन के अनुरागी होकर, निदान-रहित तथा शुक्ललेश्यापूर्वक मरण को प्राप्त होते है, उनके लिए बोधि की प्राप्ति सुलभ होती है।

५८२. (इसलिए) मरण-काल मे रत्नत्रय की सिद्धि या सम्प्राप्ति के अभिलाषी साधक को चाहिए कि वह पहले से ही निरन्तर परि-कर्म अर्थात् सम्यक्त्वादि का अनुष्ठान करता रहे, क्योकि परिकर्म या अभ्यास करते रहनेवाले की आराधना सुखपूर्वक होती है।

५८३-५८४ राजकुल मे उत्पन्न राजपुत्र नित्य समुचित शस्त्राभ्यास करता रहता है तो उसमे दक्षता आ जाती है और वह युद्ध मे विजय प्राप्त करने मे समर्थ होता है। इसी प्रकार जो समभावी साधु नित्य ध्यानाभ्यास करता है, उसका चित्त वश में हो जाता है और मरणकाल मे ध्यान करने मे समर्थ हो जाता है।

५८५. मोक्खपहे अप्पाणं, ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव ।
तत्थेव विहर णिच्चं, मा विहरसु अन्नदव्वेसु ॥१९॥
मोक्षपथे आत्मान, स्थापय त चैव ध्याय त चैव ।
तत्रैव विहर नित्य, मा विहरस्व अन्यद्रव्येषु ॥१९॥

५८६. इहपरलोगासंस-प्पओग, तह जीयमरणभोगेसु ।
वज्जिज्जा भाविज्ज य, असुहं संसारपरिणामं ॥२०॥
इहपरलोकाशसा-प्रयोगो तथा जीवितमरणभोगेषु ।
वर्जयेद् भावयेत् च अशुभ ससारपरिणामम् ॥२०॥

५८७. परदव्वादो दुग्गइ, सद्दव्वादो हु सुग्गई होई ।
इय णाऊ सदव्वे, कुणह रई विरई इयरम्मि ॥२१॥
परद्रव्यात् दुर्गति, स्वद्रव्यात् खलु सुगति. भवति ।
इति ज्ञात्वा स्वद्रव्ये, कुरुत रति विरतिम् इतरस्मिन् ॥२१॥

●

५८५. भो भव्य ! तू मोक्षमार्ग मे ही आत्मा को स्थापित कर। उसीका ध्यान कर। उसीका अनुभव कर तथा उसीमे विहार कर। अन्य द्रव्यो मे विहार मत कर।

सलेखना-रत साधक को मरण-काल मे इस लोक और परलोक मे सुखादि के प्राप्त करने की इच्छा का तथा जीने और मरने की इच्छा का त्याग करके अन्तिम सांस तक ससार के अशुभ परिणाम का चिन्तन करना चाहिए।

५८७. पर-द्रव्य अर्थात् धन-धान्य, परिवार व देहादि मे अनुरक्त होने से दुर्गति होती है और स्व-द्रव्य अर्थात् अपनी आत्मा मे लीन होने से सुगति होती है। ऐसा जानकर स्व-द्रव्य मे रत रहो और पर-द्रव्य से विरत।

●

समणसुत्तं

तृतीय खण्ड

तत्त्व-दर्शन

५८८. जावन्तऽविज्जापुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणन्तए ॥१॥
यावन्तोऽविद्यापुरुषा, सर्वे ते दुःखसम्भवा ।
लुप्यन्ते बहुशो मूढा, संसारेऽनन्तके ॥१॥

५८९. समिक्ख पंडिए तम्हा, पासजाइपहे बहू ।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए ॥२॥
समीक्ष्य पण्डितस्तस्मात्, पाशजातिपथान् बहून् ।
आत्मना सत्यमेषयेत्, मैत्रीं भूतेषु कल्पयेत् ॥२॥

५९०. तच्चं तह परमट्ठं, दव्वसहावं तहेव परमपरं ।
धेयं सुद्धं परमं, एयट्ठा हुंति अभिहाणा ॥३॥
तत्त्वं तथा परमार्थं, द्रव्यस्वभावस्तथैव परमपरम् ।
ध्येयं शुद्धं परमम्, एकार्थानि भवन्त्यभिधानानि ॥३॥

५९१. जीवाऽजीवा य बन्धो य, पुण्णं पावाऽऽसवो तहा ।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव ॥४॥
जीवा अजीवाश्च बन्धश्च, पुण्यं पापास्रवः तथा ।
संवरो निर्जरा मोक्षः, सन्त्येते तथ्या नव ॥४॥

५९२. उवओगलक्खणमणाइ - निहणमत्थंतरं सरीराओ ।
जीवमरूविं कारिं, भोयं च सयस्स कम्मस्स ॥५॥
उपयोगलक्षणमनाद्य-निधनमर्थान्तरं शरीरात् ।
जीवमरूपिणं कारिणं, भोगे च स्वकस्य कर्मणः ॥५॥

५९३. सुहदुक्खजाणणा वा, हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं ।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं, तं समणा विंति अज्जीवं ॥६॥
सुखदुःखज्ञानं वा, हितपरिकर्म चाहितभीरुत्वम् ।
यस्य न विद्यते नित्यं, तं श्रमणा ब्रुवते अजीवं ॥६॥

३४. तत्त्वसूत्र

५८८ समस्त अविद्यावान् (अज्ञानी पुरुष) दु खी है—दु ख के उत्पादक है। वे विवेकमूढ अनन्त ससार मे वार-वार लुप्त होते है।

५८९ इसलिए पण्डितपुरुष अनेकविध पाश या वन्धनरूप स्त्री-पुत्रादि के सम्वन्धो की, जो कि जन्म-मरण के कारण है, समीक्षा करके स्वय सत्य की खोज करे और सव प्राणियो के प्रति मैत्रीभाव रखे।

५९०. तत्त्व, परमार्थ, द्रव्य-स्वभाव, पर-अपर ध्येय, शुद्ध, परम—ये सव शब्द एकार्थवाची है।

५९१ जीव, अजीव, वन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नौ तत्त्व या पदार्थ है।

५९२ जीव का लक्षण उपयोग है। यह अनादि-निधन है, शरीर से भिन्न है, अरूपी है और अपने कर्म का कर्ता-भोक्ता है।

५९३. श्रमण-जन उसे अजीव कहते है जिसे सुख-दु ख का ज्ञान नही होता, हित के प्रति उद्यम और अहित का भय नही होता।

५९४. अज्जीवो पुण णेओ, पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं ।
कालो पुग्गल मुत्तो, रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु ॥७॥
अजीव पुन ज्ञेय पुद्‌गल. धर्म अधर्म आकाश ।
काल पुद्‌गल मूर्त रूपादिगुण, अमूर्तय शेषा खलु ॥७॥

५९५. नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा, अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो ।
अज्झत्थहेउं नियय‍ऽस्स बन्धो, संसारहेउं च वयन्ति बन्धं ॥८॥
नो इन्द्रियग्राह्योऽमूर्तभावात्, अमूर्त्तभावादपि च भवति नित्य ।
अध्यात्महेतुर्नियत अस्य बन्ध, ससारहेतु च वदन्ति बन्धम् ॥८॥

५९६. रत्तो बंधदि कम्मं, मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बधसमासो, जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥९॥
रक्तो बध्नाति कर्म, मुच्यते कर्मभी रागरहितात्मा ।
एप बन्धसमासो, जीवाना जानीहि निश्चयत ॥९॥

५९७. तम्हा णिव्वुदिकामो, रागं सव्वत्थ कुणदि मा किंचि ।
सो तेण वीदरागो, भवियो भवसायरं तरदि ॥१०॥
तस्मात् निर्वृत्तिकामो, रागं सर्वत्र करोतु मा किंचित् ।
स तेन वीतरागो, भव्यो भवसागर तरति ॥१०॥

५९८. कम्मं पुण्णं पावं, हेऊ तेसिं च होंति सच्छिदरा ।
मंदकसाया सच्छा, तिव्वकसाया असच्छा हु ॥११॥
कर्म पुण्य पाप, हेतव तेपा च भवन्ति स्वच्छेतरा ।
मन्दकपाया. स्वच्छा, तीव्रकपाया अस्वच्छा खलु ॥११॥

५९९. सव्वत्थ वि पियवयणं, दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं ।
सव्वेसि गुणगहणं, मंदकसायाण दिट्ठंता ॥१२॥
सर्वत्र अपि प्रियवचन, दुर्वचने दुर्जने अपि क्षमाकरणम् ।
सर्वेपा गुणग्रहण, मन्दकपायाणा दृप्टान्ता ॥१२॥

६००. अप्पपसंसण-करणं, पुज्जेसु वि दोसगहण-सीलत्तं ।
वेरधरणं च सुइरं, तिव्वकसायाण लिंगाणि ॥१३॥
आत्मप्रशसनकरण, पूज्यषु अपि दोषग्रहणशीलत्वम् ।
वैरधारण च सुचिर, तीव्रकषायाणा लिङ्गानि ॥१३॥

५९४. अजीवद्रव्य पाँच प्रकार का है--पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश और काल। इनमें से पुद्गल रूपादि गुण युक्त होने से मूर्तिक है। शेष चारों अमूर्तिक है।

५९५. आत्मा (जीव) अमूर्त है, अत. वह इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य नही है। तथा अमूर्त पदार्थ नित्य होता है। आत्मा के आन्तरिक रागादि भाव ही निश्चयत बन्ध के कारण है और बन्ध को ससार का हेतु कहा गया है।

५९६ रागयुक्त ही कर्मबन्ध करता है। रागरहित आत्मा कर्मो से मुक्त होती है। यह निश्चय से सक्षेप मे जीवो के बन्ध का कथन है।

५९७. इसलिए मोक्षाभिलाषी को तनिक भी राग नही करना चाहिए। ऐसा करने से वह वीतराग होकर भवसागर को तैर जाता है।

५९८. कर्म दो प्रकार का है—पुण्यरूप और पापरूप। पुण्यकर्म के बन्ध का हेतु स्वच्छ या शुभभाव है और पापकर्म के बन्ध का हेतु अस्वच्छ या अशुभ भाव है। मन्दकषायी जीव स्वच्छ-भाववाले होते है तथा तीव्रकषायी जीव स्वच्छभाववाले।

५९९ सर्वत्र ही प्रिय वचन बोलना, दुर्वचन बोलनेवाले को भी क्षमा करना तथा सबके गुणो को ग्रहण करना—ये मन्दकषायी जीवो के लक्षण है।

६००. अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषो मे भी दोष निकालने का स्वभाव होना, दीर्घकाल तक वैर की गाँठ को बाँधे रखना—ये तीव्रकषायवाले जीवो के लक्षण या चिह्न है।

६०१. रागद्दोसपमत्तो, इंदियवसओ करेइ कम्माइं।
आसवदारेहिं अवि-गुहेहिं तिविहेण करणेणं ॥१४॥
रागद्वेषप्रमत्त, इन्द्रियवशग करोति कर्माणि।
आस्रवद्वारैरविगूहितैस्त्रिविधेन करणेन ॥१४॥

६०२. आसवदारेहिं सया, हिंसाईएहिं कम्ममासवइ।
जह नावाइ विणासो, छिद्देहि जलं उयहिमज्झे ॥१५॥
आस्रवद्वारै सदा, हिंसादिकै कर्म स्रवति।
यथा नावो विनाश-श्छिद्रै जलम् उदधिमध्ये ॥१५॥

६०३. मणसा वाया कायेण, का वि जुत्तस्स विरियपरिणामो।
जीवस्स-प्पणिओगो, जोगो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो ॥१६॥
मनसा वाचा कायेन, वापि युक्तस्य वीर्यपरिणाम।
जीवस्य प्रणियोग, योग इति जिनैर्निर्दिष्ट ॥१६॥

६०४. जहा जहा अप्पतरो से जोगो, तहा तहा अप्पतरो से बंधो।
निरुद्धजोगिस्स व से ण होति, अछिद्दपोतस्स व अंबुणाथे ॥१७॥
यथा यथा अल्पतर तस्य योग, तथा तथा अल्पतर तस्य बन्ध।
निरुद्धयोगिन वा स न भवति, अछिद्रपोतस्येव अम्बुनाथे ॥१७॥

६०५. मिच्छत्ताविरदी वि य, कसाय जोगा य आसवा होंति।
संजम-विराय-दंसण-जोगाभावो य संवरओ ॥१८॥
मिथ्यात्वाऽविरति अपि च कषाया योगाञ्च आस्रवा भवन्ति।
सयम-विराग-दर्शन-योगाभावञ्च सवरक ॥१८॥

६०६. रुंधियछिद्दसहस्से, जलजाणे जह जलं तु णासवदि।
मिच्छत्ताइअभावे, तह जीवे संवरो होइ ॥१९॥
रुद्धछिद्रसहस्रे, जलयाने यथा जल तु नास्रवति।
मिथ्यात्वाद्यभावे, तथा जीवे सवरो भवति ॥१९॥

६०७. सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पाव कम्मं न बंधई ॥२०॥
सर्वभूतात्मभूतस्य, सम्यक् भूतानि पश्यत।
पिहितास्रवस्य दान्तस्य, पाप कर्म न बध्यते ॥२०॥

६०१ रागद्वेष से प्रमत्त बना जीव इन्द्रियाधीन होकर मन-वचन-काय के द्वारा उसके आस्रव-द्वार बराबर खुले रहने के कारण निरन्तर कर्म करता रहता है ।

६०२ हिंसा आदि आस्रवद्वारों से सदा कर्मों का आस्रव होता रहता है, जैसे कि समुद्र में जल के आने से सछिद्र नौका डूब जाती है ।

६०३ (योग भी आस्रव-द्वार है ।) मन, वचन, काय से युक्त जीव का जो वीर्य परिणाम या प्रदेश-परिस्पन्दनरूप प्रणियोग होता है, उसे योग कहते हैं ।

६०४. जैसे-जैसे योग अल्पतर होता है, वैसे-वैसे बन्ध या आस्रव भी अल्पतर होता है । योग का निरोध हो जाने पर बन्ध नहीं होता, जैसे कि छेदरहित जहाज में जल प्रवेश नहीं करता ।

६०५. मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—ये आस्रव के हेतु हैं । संयम, विराग, दर्शन और योग का अभाव—ये संवर के हेतु हैं ।

६०६. जैसे जलयान के हजारों छेद बन्द कर देने पर उसमें पानी नहीं घुसता, वैसे ही मिथ्यात्व आदि के दूर हो जाने पर जीव में संवर होता है ।

६०७. जो समस्त प्राणियों को आत्मवत् देखता है और जिसने कर्मास्रव के सारे द्वार बन्द कर दिये हैं, उस संयमी को पापकर्म का बन्ध नहीं होता ।

६०८. मिच्छत्तासवदारं, रुंभइ सम्मत्तदिढकवाडेण ।
हिंसादिदुवाराणि वि, दिढवयफलिहिंहि रुंभंति ।।२१।।
मिथ्यात्वास्रवद्वारं रुध्यते सम्यक्त्वदृढकपाटेन ।
हिंसादिद्वाराणि अपि दृढव्रतपरिघैः रुध्यन्ते ।।२१।।

६०९–६१०. जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिचणाए तवणाए, कमेण सोसणा भवे ।।२२।।
एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ।।२३।।
यथा महातडागस्य, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उत्सिञ्चनया तपनया, क्रमेण शोषणा भवेत् ।।२२।।
एवं तु संयतस्यापि, पापकर्मनिरास्रवे ।
भवकोटिसञ्चितं कर्म, तपसा निर्जीर्यते ।।२३।।

६११. तवसा चेव ण मोक्खो, संवरहीणस्स होइ जिणवयणे ।
ण हु सोत्ते पविसंते, किसिणं परिसुस्सदि तलायं ।।२४।।
तपसा चैव न मोक्षः, संवरहीनस्य भवति जिनवचने ।
न हि स्रोतसि प्रविशति, कृत्स्नं परिशुष्यति तडागम् ।।२४।।

६१२. जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुआहिं वासकोडीहिं ।
तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ।।२५।।
यद् अज्ञानी कर्म, क्षपयति बहुकाभिर्वर्षकोटीभिः ।
तद् ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः, क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ।।२५।।

६१३. सेणावइम्मि णिहए, जहा सेणा पणस्सई ।
एवं कम्माणि णस्संति, मोहणिज्जे खयं गए ।।२६।।
सेनापतौ निहते, यथा सेना प्रणश्यति ।
एवं कर्माणि नश्यन्ति, मोहनीये क्षयं गते ।।२६।।

६१४. कम्ममलविप्पमुक्को, उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता ।
सो सव्वणाणदरिसी, लहदि सुहमणिंदियमणंतं ।।२७।।
कर्ममलविप्रमुक्तः, ऊर्ध्वं लोकस्यान्तमधिगम्य ।
स सर्वज्ञानदर्शी, लभते सुखमनिन्द्रियमनन्तम् ।।२७।।

६०८. मुमुक्षुजीव सम्यक्त्वरूपी दृढ कपाटों से मिथ्यात्वरूपी आस्रव-द्वार को रोकता है तथा दृढ व्रतरूपी कपाटों से हिंसा आदि द्वारों को रोकता है।

६०९-६१०. जैसे किसी बड़े तालाब का जल, जल के मार्ग को बन्द करने से, पहले के जल को उलीचने से तथा सूर्य के ताप से क्रमशः सूख जाता है, वैसे ही संयमी का करोड़ों भवों में संचित कर्म पापकर्म के प्रवेश-मार्ग को रोक देने पर तथा तप से निर्जरा को प्राप्त होता है—नष्ट होता है।

६११. यह जिन-वचन है कि संवरविहीन मुनि को केवल तप करने से ही मोक्ष नहीं मिलता, जैसे कि पानी के आने का स्रोत खुला रहने पर तालाब का पूरा पानी नहीं सूखता।

६१२. अज्ञानी व्यक्ति तप के द्वारा करोड़ों जन्मों या वर्षों में जितने कर्मों का क्षय करता है, उतने कर्मों का नाश ज्ञानी व्यक्ति त्रिगुप्ति के द्वारा एक साँस में सहज कर डालता है।

६१३. जैसे सेनापति के मारे जाने पर सेना नष्ट हो जाती है, वैसे ही एक मोहनीय कर्म के क्षय होने पर समस्त कर्म सहज ही नष्ट हो जाते हैं।

६१४. कर्ममल से विमुक्त जीव ऊपर लोकान्त तक जाता है और वहाँ वह सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी के रूप में अतीन्द्रिय अनन्तसुख भोगता है।

६१५. चक्किकुरुफणिसुरेंदेसु, अहमिंदे जं सुहं तिकालभवं।
तत्तो अणंतगुणिदं, सिद्धाणं खणसुहं होदि ॥२८॥
चक्रिकुरुफणिसुरेन्द्रेषु, अहमिन्द्रे यत् सुख त्रिकालभवम्।
तत अनन्तगुणित, सिद्धाना क्षणसुखं भवति ॥२८॥

६१६. सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ।
मई तत्थ न गाहिया, ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने ॥२९॥
सर्वे स्वरा निवर्त्तन्ते, तर्को यत्र न विद्यते।
मतिस्तत्र न गाहिका, ओज अप्रतिष्ठानस्य खेदज्ञ ॥२९॥

६१७. ण वि दुक्खं ण वि सुक्खं, ण वि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
ण वि मरणं ण वि जणणं, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥३०॥
नापि दु ख नापि सौख्य, नापि पीडा नैव विद्यते बाधा।
नापि मरण नापि जनन, तत्रैव च भवति निर्वाणम् ॥३०॥

६१८. ण वि इंदिय उवसग्गा, ण वि मोहो विम्हयो ण णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेव छुहा, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥३१॥
नापि इन्द्रियाणि उपसर्गा, नापि मोहो विस्मयो न निद्रा च।
न च तृष्णा नैव क्षुधा, तत्रैव च भवति निर्वाणम् ॥३१॥

६१९. ण वि कम्मं णोकम्मं, ण वि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
ण वि धम्मसुक्कझाणे, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥३२॥
नापि कर्म्म नोकर्म्म, नापि चिन्ता नैवार्तरौद्रे।
नापि धर्म्मशुक्लध्याने, तत्रैव च भवति निर्वाणम् ॥३२॥

६२०. विज्जदि केवलणाणं, केवलसोक्खं च केवलं विरयं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं, अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥३३॥
विद्यते केवलज्ञानं, केवलसौख्य च केवल वीर्यम्।
केवलदृष्टिरमूर्तत्व-मस्तित्व सप्रदेशत्वम् ॥३३॥

६१५ चक्रवर्तियों को, उत्तरकुरु, दक्षिणकुरु आदि भोगभूमिवाले जीवों को, तथा फणीन्द्र, सुरेन्द्र एव अहमिन्द्रो को त्रिकाल मे जितना सुख मिलता है उस सबसे भी अनन्तगुना सुख सिद्धो को एक क्षण मे अनुभव होता है ।

६१६. मोक्षावस्था का शब्दो मे वर्णन करना सम्भव नही है, क्योकि वहाँ शब्दो की प्रवृत्ति नही है । न वहाँ तर्क का ही प्रवेश सम्भव है, क्योकि वहाँ मानस-व्यापार सम्भव नही है । मोक्षावस्था सकल्प-विकल्पातीत है । साथ ही समस्त मलकलक से रहित होने से वहाँ ओज भी नही है । रागातीत होने के कारण सातवे नरक तक की भूमि का ज्ञान होने पर भी वहाँ किसी प्रकार का खेद नही है ।

६१७ जहाँ न दु ख है न सुख, न पीडा है न बाधा, न मरण है न जन्म, वही निर्वाण है ।

६१८ जहाँ न इन्द्रियाँ है न उपसर्ग, न मोह है न विस्मय, न निद्रा है न तृष्णा और न भूख, वही निर्वाण है ।

६१९. जहाँ न कर्म है न नोकर्म, न चिन्ता है न आर्तरौद्र ध्यान, न धर्म-ध्यान है और न शुक्लध्यान, वही निर्वाण है ।

६२० वहाँ अर्थात् मुक्तजीवो मे केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख, केवलवीर्य, अरूपता, अस्तित्व और सप्रदेशत्व-ये गुण होते है ।

६२१. निव्वाणं ति अवाहंति, सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेमं सिवं अणाबाहं, जं चरंति महेसिणो ॥३४॥
निर्वाणमित्यबाधमिति, सिद्धिर्लोकाग्रमेव च।
क्षेमं शिवमनाबाधं, यत् चरन्ति महर्षयः ॥३४॥

६२२. लाउअ एरण्डफले, अग्गीधूमे उसू धणुविमुक्के।
गइ पुव्वपओगेणं, एवं सिद्धाण वि गती तु ॥३५॥
अलाबु च एरण्डफल-मग्निधूम इषुर्धनुर्विप्रमुक्तः।
गतिः पूर्वप्रयोगेणैव, सिद्धानामपि गतिस्तु ॥३५॥

६२३. अव्वाबाहमणिंदिय-मणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं।
पुणरागमणविरहियं, णिच्चं अचलं अणालंबं ॥३६॥
अव्याबाधमनिन्द्रिय-मनुपमं पुण्यपापनिर्मुक्तम्।
पुनरागमनविरहितं, नित्यमचलमनालम्बम् ॥३६॥

३५. द्रव्यसूत्र

६२४. धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल जन्तवो।
एस लोगो त्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥१॥
धर्मोऽधर्म आकाशं, कालः पुद्गला जन्तवः।
एष लोक इति प्रज्ञप्तः, जिनैर्वरदर्शिभिः ॥१॥

६२५. आगासकालपुग्गल-धम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा।
तेसिं अचेदणत्तं, भणिदं जीवस्स चेदणदा ॥२॥
आकाशकालपुद्गल-धर्माधर्मेषु न सन्ति जीवगुणाः।
तेषामचेतनत्वं, भणितं जीवस्य चेतनता ॥२॥

६२६. आगासकालजीवा, धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा।
मुत्तं पुग्गलदव्वं, जीवो खलु चेदणो तेसु ॥३॥
आकाशकालजीवाः, धर्माधर्मौ च मूर्तिपरिहीनाः।
मूर्तं पुद्गलद्रव्यं, जीवः खलु चेतनस्तेषु ॥३॥

६२१. जिस स्थान को महर्षि ही प्राप्त करते हैं वह स्थान निर्वाण है, अबाध है, सिद्धि है, लोकाग्र है, क्षेम, शिव और अनाबाध है।

६२२. जैसे मिट्टी से लिप्त तुम्बी जल मे डूब जाती है और मिट्टी का लेप दूर होते ही ऊपर तैरने लग जाती है अथवा जैसे एरण्ड का फल धूप से सूखने पर फटता है तो उसके बीज ऊपर को ही जाते हैं अथवा जैसे अग्नि या धूम की गति स्वभावतः ऊपर की ओर होती है अथवा जैसे धनुष से छूटा हुआ बाण पूर्व-प्रयोग से गतिमान् होता है, वैसे ही सिद्ध जीवो की गति भी स्वभावत. ऊपर की ओर होती है।

६२३. परमात्म-तत्त्व, अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्य-पापरहित, पुनरागमनरहित, नित्य, अचल और निरालम्ब होता है।

३५. द्रव्यसूत्र

६२४ परमदर्शी जिनवरो ने लोक को धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव इस प्रकार छह द्रव्यात्मक कहा है।

६२५. आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्म द्रव्यो मे जीव के गुण नही होते, इसलिए इन्हे अजीव कहा गया है। जीव का गुण चेतनता है।

६२६ आकाश, काल, जीव, धर्म और अधर्म द्रव्य अमूर्तिक है। पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है। इन सबमे केवल जीव द्रव्य ही चेतन है।

६२७. जीवा पुग्गलकाया, सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा ।
पुग्गलकरणा जीवा, खंधा खलु कालकरणा दु ॥४॥
जीवाः पुद्गलकायाः, सह सक्रिया भवन्ति न च शेषाः ।
पुद्गलकरणा जीवाः, स्कन्धा खलु कालकरणास्तु ॥४॥

६२८. धम्मो अहम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं ।
अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गल जंतवो ॥५॥
धर्मोऽधर्म आकाशं, द्रव्यमेकैकमाख्यातम् ।
अनन्तानि च द्रव्याणि, कालः (समयाः) पुद्गलाः जन्तवः ॥५॥

६२९. धम्माधम्मे य दोऽवेए, लोगमित्ता वियाहिया ।
लोगालोगे य आगासे, समए समयखेत्तिए ॥६॥
धर्माऽधर्मों च द्वावप्येतौ, लोकमात्रौ व्याख्यातौ ।
लोकेऽलोके चाकाशं, समयः समयक्षेत्रिकः ॥६॥

६३०. अन्नोन्नं पविसंता, दिंता ओगासमन्नमन्नस्स ।
मेलंता वि य णिच्चं, सगं सभावं ण विजहंति ॥७॥
अन्योऽन्यं प्रविशन्ति, ददत्यवकाशमन्योऽन्यस्य ।
मिलन्तोऽपि च नित्यं, स्वकं स्वभावं न विजहति ॥७॥

६३१. धम्मत्थिकायमरसं, अवण्णगंधं असद्दमप्फासं ।
लोगोगाढं पुट्ठं, पिहुलमसंखादिय-पदेसं ॥८॥
धर्मास्तिकायोऽरसो-ऽवर्णगन्धोऽशब्दोऽस्पर्शः ।
लोकावगाढः स्पृष्टः, पृथुलोऽसंख्यातिकप्रदेशः ॥८॥

६३२. उदयं जह मच्छाणं, गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए ।
तह जीवपुग्गलाणं, धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥९॥
उदकं यथा मत्स्यानां, गमनानुग्रहकरं भवति लोके ।
तथा जीवपुद्गलानां, धर्मं द्रव्यं विजानीहि ॥९॥

६३३. ण य गच्छदि धम्मत्थी, गमणं ण करेदि अन्नदवियस्स ।
हवदि गती स प्पसरो, जीवाणं पुग्गलाणं च ॥१०॥
न च गच्छति धर्मास्तिकायः, गमनं न करोत्यन्यद्रव्यस्य ।
भवति गतेः स प्रसरो, जीवानां पुद्गलानां च ॥१०॥

६२७ जीव और पुद्‌गलकाय ये दो द्रव्य सक्रिय है। शेष सब द्रव्य निष्क्रिय है। जीव के सक्रिय होने का बाह्य साधन कर्म नोकर्मरूप पुद्‌गल है और पुद्‌गल के सक्रिय होने का बाह्य साधन कालद्रव्य है।

६२८ धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनो द्रव्य सख्या म एक-एक ह। (व्यवहार–) काल, पुद्‌गल और जीव ये तीनो द्रव्य अनंत-अनत है।

६२९ धर्म और अधर्म ये दोनो ही द्रव्य लोकप्रमाण है। आकाश लोक और अलोक मे व्याप्त है। (व्यवहार–) काल केवल समयक्षेत्र अर्थात् मनुष्यक्षेत्र मे ही है।

६३० ये सब द्रव्य परस्पर मे प्रविष्ट है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को अवकाश देते हुए स्थित है। ये इसी प्रकार अनादिकाल से मिले हुए है, किन्तु अपना-अपना स्वभाव नही छोडते है।

६३१ धर्मास्तिकाय रस-रहित है, रूप-रहित है, स्पर्श और गन्ध-रहित है और शब्द-रहित है। समस्त लोकाकाश मे व्याप्त है, अखण्ड है, विशाल है और असख्यातप्रदेशी है।

६३२ जैसे इस लोक मे जल मछलियो के गमन मे सहायक होता है, वैसे ही धर्मद्रव्य जीवो तथा पुद्‌गलो के गमन मे सहायक या निमित्त बनता है।

६३३ धर्मास्तिकाय स्वय गमन नही करता और न अन्य द्रव्यो का गमन कराता है। वह तो जीवो और पुद्‌गलो की गति मे उदासीन कारण है। यही धर्मास्तिकाय का लक्षण है।

६३४. जह हवदि धम्मदव्वं, तह तं जाणेह दव्वमधम्मक्खं ।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं, कारणभूदं तु पुढवीव ॥११॥
यथा भवति धर्मद्रव्य, तथा तद् जानीहि द्रव्यमधर्माख्यम् ।
स्थितिक्रियायुक्ताना, कारणभूत तु पृथिवीव ॥११॥

६३५. चेयणरहियममुत्त, अवगाहणलक्खणं च सव्वगयं ।
लोयालोयविभेयं, तं णहदव्वं जिणुद्दिट्ठं ॥१२॥
चेतनारहितममूर्त्तं, अवगाहनलक्षण च सर्वगतम् ।
लोकालोकद्विभेदं, तद् नभोद्रव्य जिनोद्दिष्टम् ॥१२॥

६३६. जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए ।
अजीवदेसमागासे, अलोए से वियाहिए ॥१३॥
जीवाश्चैवाजीवाश्च, एप लोको व्याख्यात ।
अजीवदेश आकाश, अलोकः स व्याख्यात ॥१३॥

६३७. पासरसगंधवण्ण-व्वदिरित्तो अगुरुलहुगसंजुत्तो ।
वत्तणलक्खणकलियं, कालसरूवं इमं होदि ॥१४॥
स्पर्शरसगन्धवर्णव्यतिरिक्तम् अगुरुलघुकसयुक्तम् ।
वर्तनलक्षणकलित कालस्वरूपम् इद भवति ॥१४॥

६३८. जीवाण पुग्गलाणं, हुवंति परियट्टणाइ विविहाइ ।
एदाणं पज्जाया, वट्टंते मुक्खकालआधारे ॥१५॥
जीवाना पुद्गलाना भवन्ति परिवर्तनानि विविधानि ।
एतेपा पर्याया वर्तन्ते मुख्यकालआधारे ॥१५॥

६३९. समयावलिउस्सासा, पाणा थोवा य आदिआ भेदा ।
ववहारकालणामा, णिद्दिट्ठा वीयराएहिं ॥१६॥
समयआवलिउच्छ्वासा प्राणा स्तोकाश्च आदिका भेदा ।
व्यवहारकालनामान निर्दिष्टा वीतरागै ॥१६॥

६४०. अणुखंधवियप्पेण दु, पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं ।
खंधा हु छप्पयारा, परमाणू चेव दुवियप्पो ॥१७॥
अणुस्कन्धविकल्पेन तु, पुद्गलद्रव्य भवति द्विविकल्पम् ।
स्कन्धा खलु षट्प्रकारा, परमाणुश्चैव द्विविकल्प ॥१७॥

६३४ धर्मद्रव्य की तरह ही अधर्मद्रव्य है। परन्तु अन्तर यह है कि यह स्थितिरूप क्रिया से युक्त जीवो और पुद्गलो की स्थिति मे पृथ्वी की तरह निमित्त वनता है।

६३५. जिनेन्द्रदेव ने आकाश-द्रव्य को अचेतन, अमूर्त, व्यापक और अवगाह लक्षणवाला कहा है। लोक और अलोक के भेद से आकाश दो प्रकार का है।

६३६. यह लोक जीव और अजीवमय कहा गया है। जहाँ अजीव का एकदेश (भाग) केवल आकाश पाया जाता है, उसे अलोक कहते हैं।

६३७ स्पर्श, गन्ध, रस और रूप से रहित, अगुरु-लघु गुण से युक्त तथा वर्तना लक्षणवाला कालद्रव्य कहा गया है।

६३८ जीवो और पुद्गलो मे नित्य होनेवाले अनेक प्रकार के परिवर्तन या पर्याये मुख्यत कालद्रव्य के आधार से होती है। अर्थात् उनके परिणमन मे कालद्रव्य निमित्त होता है। (इसीको आगम मे निश्चयकाल कहा जाता है।)

६३९ वीतरागदेव ने वताया है कि व्यवहार-काल समय, आवलि, उच्छ्वास, प्राण, स्तोक आदि रूपात्मक है।

६४० अणु और स्कन्ध के रूप मे पुद्गल-द्रव्य दो प्रकार का है। स्कन्ध छह प्रकार का है और परमाणु दो प्रकार का—कारण-परमाणु और कार्य-परमाणु।

६४१. अइथूलथूल थूलं, थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च ।
सुहुमं अइसुहुमं इदि, धरादियं होदि छब्भेयं ॥१८॥
अतिस्थूलस्थूला स्थूला, स्थूलसूक्ष्माश्च सूक्ष्मस्थूलाश्च ।
सूक्ष्मा अतिसूक्ष्मा इति, धरादयो भवन्ति षड्भेदा ॥१८॥

६४२. पुढवी जलं च छाया, चउरिंदियविसय-कम्मपरमाणू ।
छव्विहभेयं भणियं, पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं ॥१९॥
पृथिवी जलं च छाया, चतुरिन्द्रियविषय-कर्मपरमाणवः ।
षड्विधभेदं भणितं, पुद्गलद्रव्यं जिनवरैः ॥१९॥

६४३. अंतादिमज्झहीणं, अपदेसं इंदिएहिं ण हु गेज्झं ।
जं दव्वं अविभत्तं, तं परमाणुं कहंति जिणा ॥२०॥
अन्त्यादिमध्यहीनम् अप्रदेशम् इन्द्रियैर्न खलु ग्राह्यम् ।
यद् द्रव्यम् अविभक्तम् तं परमाणुं कथयन्ति जिनाः ॥२०॥

६४४. वण्णरसगंधफासे, पूरणगलणाइ सव्वकालम्हि ।
खंदं इव कुणमाणा, परमाणू पुग्गला तम्हा ॥२१॥
वर्णरसगन्धस्पर्शे पूरणगलनानि सर्वकाले ।
स्कन्धा इव कुर्वन्तः परमाणवः पुद्गलाः तस्मात् ॥२१॥

६४५. पाणेहिं चदुहिं जीवदि, जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो, पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो ॥२२॥
प्राणैश्चतुर्भिर्जीवति, जीविष्यति यः खलु जीवितः पूर्वं ।
स जीवः, प्राणाः, पुनर्बलमिन्द्रियमायुरुच्छ्वासः ॥२२॥

६४६. अणुगुरुदेहपमाणो, उवसंहारप्पसप्पदो चेदा ।
असमुहदो ववहारा, णिच्छयणयदो असंखदेसो वा ॥२३॥
अणुगुरुदेहप्रमाणः, उपसंहारप्रसर्पतः चेतयिता ।
असमवहतः व्यवहारात्, निश्चयनयतः असंख्यदेशो वा ॥२३॥

६४७. जह पउमरायरयणं, खित्तं खीरे पभासयदि खीरं ।
तह देही देहत्थो, सदेहमत्तं पभासयदि ॥२४॥
यथा पद्मरागरत्नं, क्षिप्तं क्षीरे प्रभासयति क्षीरम् ।
तथा देही देहस्थः, स्वदेहमात्रं प्रभासयति ॥२४॥

६४१ स्कन्ध पुद्‌गल के छह प्रकार ये हैं—अतिस्थूल, स्थूल, स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म। पृथ्वी आदि इसके छह दृष्टान्त हैं।

६४२ पृथ्वी, जल, छाया, नेत्र तथा शेष चार इन्द्रियों के विषय, कर्म तथा परमाणु—इस प्रकार जिनदेव ने स्कन्धपुद्‌गल के छह दृष्टान्त दिये हैं। [पृथ्वी अतिस्थूल का, जल स्थूल का, छाया-प्रकाश आदि नेत्रइन्द्रिय-विषय स्थूल-सूक्ष्म का, रस-गंध-स्पर्श आदि शेष इन्द्रिय-विषय सूक्ष्म-स्थूल का, कार्मण-स्कन्ध सूक्ष्म का तथा परमाणु अतिसूक्ष्म का दृष्टान्त है।]

६४३ जो आदि मध्य और अन्त से रहित है, जो केवल एकप्रदेशी है—जिसके दो आदि प्रदेश नही है और जिसे इन्द्रियो द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, वह विभागविहीन द्रव्य परमाणु है।

६४४ जिसमे पूरण गलन की क्रिया होती है अर्थात् जो टूटता-जुडता रहता है, वह पुद्‌गल है। स्कन्ध की भाति परमाणु के भी स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुणो मे सदा पूरण-गलन क्रिया होती रहती है, इसलिए परमाणु भी पुद्‌गल है।

६४५. जो चार प्राणो मे वर्तमान मे जीता है, भविष्य मे जीयेगा और अतीत मे जिया है वह जीव द्रव्य है। प्राण चार है—बल, इन्द्रिय, आयु और उच्छ्‌वास।

६४६ व्यवहारनय की अपेक्षा समुद्‌घात अवस्था को छोडकर सकोच-विस्तार की शक्ति के कारण जीव अपने छोटे या बडे शरीर के बराबर परिमाण (आकार) का होता है। किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा जीव असख्यातप्रदेशी है।

६४७ जैसे पद्मरागमणि दूध मे डाल देने पर अपनी प्रभा से दूध को प्रभासित करती है—दुग्धपात्र के बाहर के किसी पदार्थ को नहीं करती, वैसे ही जीव शरीर मे रहकर अपने शरीर मात्र को प्रभासित करता है—अन्य किसी बाह्य द्रव्य को नही।

६४८. आदा णाणपमाणं, णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोयं, तम्हा णाणं तु सव्वगयं ।।२५।।
आत्मा ज्ञानप्रमाण, ज्ञान ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टम् ।
ज्ञेय लोकालोक, तस्माज्ज्ञान तु सर्वगतम् ।।२५।।

६४९. जीवा संसारत्था, णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा ।
उवओगलक्खणा वि य, देहादेहप्पवीचारा ।।२६।।
जीवा. ससारस्था, निर्वाताः, चेतनात्मका द्विविधा. ।
उपयोगलक्षणा अपि च, देहादेहप्रवीचारा ।।२६।।

६५०. पुढविजलतेयवाऊ-वणप्फदी विविहथावरेइंदी ।
विगतिगचदुपंचक्खा, तसजीवा होंति संखादी ।।२७।।
पृथिवीजलतेजोवायु-वनस्पतय. विविधस्थावरैकेन्द्रियाः ।
द्विकत्रिकचतुपञ्चाक्षा, त्रसजीवा. भवन्ति शङ्खादय. ।।२७।।

३६. सृष्टिसूत्र

६५१. लोगो अकिट्टिमो खलु, अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो ।
जीवाजीवहिं फुडो, सव्वागासावयवो णिच्चो ।।१।।
लोक अकृत्रिम. खलु, अनादिनिधनः स्वभावनिर्वृत्त ।
जीवाजीवै स्पृष्ट, सर्वाकाशावयव नित्य. ।।१।।

६५२. अपदसो परमाणू, पदसमेत्तो य समयसद्दो जो ।
णिद्धो वा लुक्खो वा, दुपदेसादित्तमणुहवदि ।।२।।
अप्रदेशः परमाणु, प्रदेशमात्रश्च स्वयमशब्दो यः ।
स्निग्धो वा रूक्षो वा, द्विप्रदेशादित्वमनुभवति ।।२।।

६५३. दुपदेसादी खंधा, सुहुमा वा वादरा ससंठाणा ।
पुढविजलतेउवाऊ, सगपरिणामेहिं जायंते ।।३।।
द्विप्रदेशादय. स्कन्धा, सूक्ष्मा वा वादराः ससंस्थाना ।
पृथिवीजलतेजोवायवः, स्वकपरिणामैर्जायन्ते ।।३।।

६४८. (इस प्रकार व्यवहारनय से जीव शरीरव्यापी है, किन्तु—) वह ज्ञान-प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है तथा ज्ञेय लोक-अलोक है, अत. ज्ञान सर्वव्यापी है। ज्ञान-प्रमाण आत्मा होने से आत्मा भी सर्वव्यापी है।

६४९. जीव दो प्रकार के है—ससारी और मुक्त। दोनो ही चेतना स्वभाववाले और उपयोग लक्षणवाले है। ससारी जीव शरीरी होते है और मुक्तजीव अशरीरी।

६५०. संसारीजीव भी त्रस और स्थावर दो प्रकार के है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये सब एकेन्द्रिय स्थावर जीव है और शख, पिपीलिका, भ्रमर तथा मनुष्य-पशु आदि क्रमश द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पचेन्द्रिय त्रस जीव है।

३६. सृष्टिसूत्र

६५१. वस्तुतः यह लोक अकृत्रिम है, अनादिनिधन है, स्वभाव से ही निर्मित है, जीव व अजीव द्रव्यो से व्याप्त है, सम्पूर्ण आकाश का ही एक भाग है तथा नित्य है।

६५२. (लोक मे व्याप्त—) पुद्गल-परमाणु एकप्रदेशी है—दो आदि प्रदेशी नही है, तथा वह शब्दरूप नही है, फिर भी उसमे स्निग्ध व रूक्ष स्पर्श का ऐसा गुण है कि एक परमाणु दूसरे परमाणुओ से बँधने या जुड़ने पर (मिलकर) दो प्रदेशी आदि स्कन्ध का रूप धारण कर लेते है।

६५३. द्विप्रदेशी आदि सारे सूक्ष्म और वादर (स्थूल) स्कन्ध अपने परिणमन के द्वारा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के रूप मे अनेक आकारवाले वन जाते है।

६५४. ओगाढगाढणिचिदो, पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहि बादरेहि य, अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं ॥४॥
अवगाढगाढनिचित, पुद्गलकायै सर्वतो लोक।
सूक्ष्मैर्बादरैश्चा-प्रायोग्यैर्योग्यै ॥४॥

६५५. कम्मत्तणपाओग्गा, खंधा जीवस्स परिणइ पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं, ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥५॥
कर्मत्वप्रायोग्या, स्कन्धा जीवस्य परिणति प्राप्य।
गच्छन्ति कर्मभाव, न हि ते जीवेन परिणमिता ॥५॥

६५६. भावेण जेण जीवो, पेच्छदि जाणादि आगदं विसये।
रज्जदि तेणेव पुणो, वज्झदि कम्म त्ति उवदेसो ॥६॥
भावेन येन जीव, प्रेक्षते जानात्यागत विषये।
रज्यति तेनैव पुनर्बध्यते कर्मेत्युपदेश ॥६॥

६५७ सव्वजीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बद्धगं ॥७॥
सर्वजीवाना कर्म तु, सग्रहे षड्दिशागतम्।
सर्वेष्वपि प्रदेशेषु, सर्व सर्वेण बद्धकम् ॥७॥

६५८. तेणावि जं कयं कम्मं, सुहं वा जइ वा दुहं।
कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छई उ परं भवं ॥८॥
तेनापि यत् कृत कर्म, सुख वा यदि वा दु खम्।
कर्मणा तेन सयुक्त, गच्छति तु पर भवम् ॥८॥

६५९. ते ते कम्मत्तगदा, पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स।
संजायंते देहा, देहंतरसंकमं पप्पा ॥९॥
ते ते कर्मत्वगता, पुद्गलकाया पुनरपि जीवस्य।
सजायन्ते देहा: देहान्तरसक्रम प्राप्य ॥९॥

६५४ यह लोक सब ओर से इन सूक्ष्म-बादर पुद्गल-स्कन्धो से ठसा-ठस भरा हुआ है। उनमे से कुछ पुद्गल कर्मरूप से परिणमन के योग्य होते है और कुछ अयोग्य होते है।

६५५ कर्मरूप मे परिणमित होने के योग्य पुद्गल जीव के रागादि (भावो) का निमित्त पाकर स्वय ही कर्मभाव को प्राप्त हो जाते है। जीव स्वय उन्हे (बलपूर्वक) कर्म के रूप मे परिणमित नही करता।

६५६ जीव अपने राग या द्वेषरूप जिस भाव से सपृक्त होकर इन्द्रियो के विषयो के रूप मे आगत या ग्रहण किये गये पदार्थों को जानता-देखता है, उन्हीसे उपरक्त होता है और उसी उपरागवश नवीन कर्मों का बन्ध करता है।

६५७. सभी जीवो के लिए सग्रह (बद्ध) करने के योग्य कर्म-पुद्गल छहो दिशाओ मे सभी आकाशप्रदेशो मे विद्यमान है। वे सभी कर्म-पुद्गल आत्मा के सभी प्रदेशो के साथ बद्ध होते है।

६५८ व्यक्ति सुख-दु.खरूप या शुभाशुभरूप जो भी कर्म करता है, वह अपने उन कर्मों के साथ ही परभव मे जाता है।

६५९ इस प्रकार कर्मों के रूप मे परिणत वे पुद्गल-पिण्ड देह से देहान्तर को—नवीन शरीररूप परिवर्तन को—प्राप्त होते रहते है। अर्थात् पूर्वबद्ध कर्म के फलरूप में नया शरीर बनता है और नया शरीर पाकर नवीन कर्म का बध होता है। इस तरह जीव निरन्तर विविध योनियो मे परिभ्रमण करता रहता है।

विश्व-दर्शन
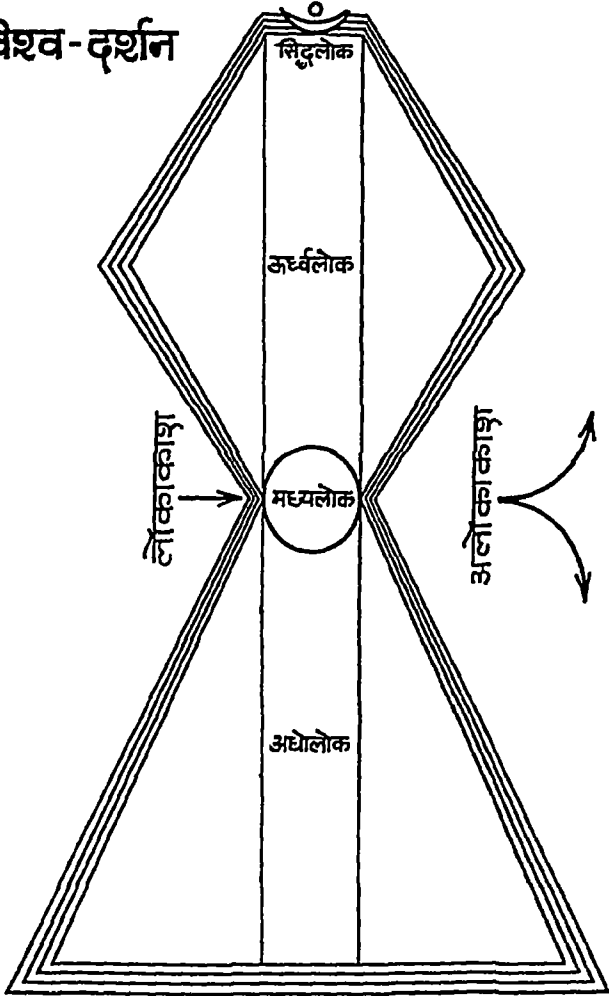
चौदह राजु उत्तंग नभ लोक पुरुष संठान।
तामैं जीव अनादिते भरमत है बिन ज्ञान॥

समणसुत्तं

चतुर्थ खण्ड

स्याद्वाद

३७. अनेकान्तसूत्र

६६०. जेण विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा न निव्वहइ ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स ॥१॥
येन विना लोकस्य अपि व्यवहार सर्वथा न निर्वहति ।
तस्मै भुवनैकगुरवे नम अनेकान्तवादाय ॥१॥

६६१. गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥२॥
गुणानामाश्रयो द्रव्य, एकद्रव्याश्रिता गुणा ।
लक्षण पर्यवाणा तु, उभयोराश्रिता भवन्ति ॥२॥

६६२. दव्वं पज्जवविउयं, दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि ।
उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं ॥३॥
द्रव्य पर्यवेवियुत, द्रव्यवियुक्ताश्च पर्यवा न सन्ति ।
उत्पादस्थितिभङ्गा, हन्त द्रव्यलक्षणमेतत् ॥३॥

६६३. ण भवो भंगविहीणो, भंगो वा णत्थि संभवविहीणो ।
उप्पादो वि य भंगो, ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥४॥
न भवो भङ्गविहीनो, भङ्गो वा नास्ति सम्भवविहीन. ।
उत्पादोऽपि च भङ्गो, न विना ध्रौव्येणार्थेन ॥४॥

६६४. उप्पादट्ठिदिभंगा, विज्जंते पज्जएसु पज्जाया ।
दव्वं हि संति नियदं, तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥५॥
उत्पादस्थितिभङ्गा, विद्यन्ते पर्यायेषु पर्यायाः ।
द्रव्य हि सन्ति नियत, तस्माद् द्रव्य भवति सर्वम् ॥५॥

६६५. समवेदं खलु दव्वं, संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं ।
एक्कम्मि चेव समये, तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥६॥
समवेत खलु द्रव्यं, सम्भवस्थितिनाशसज्ञितार्थैं ।
एकस्मिन् चैव समये, तस्माद्द्रव्य खलु तत् त्रितयम् ॥६॥

३७. अनेकान्तसूत्र

६६०. जिसके विना लोक का व्यवहार विलकुल नहीं चल सकता, विश्व के उस एकमेव गुरु अनेकान्तवाद को प्रणाम करता हूँ।

६६१. द्रव्य गुणों का आश्रय या आधार है। जो एक द्रव्य के आश्रय रहते हैं, वे गुण हैं। पर्यायों का लक्षण द्रव्य या गुण दोनों के आश्रित रहना है।

६६२. पर्याय के विना द्रव्य नहीं और द्रव्य के विना पर्याय नहीं। उत्पाद, स्थिति (ध्रुवता) और व्यय (नाश) द्रव्य का लक्षण है। अर्थात् द्रव्य उसे कहते हैं जिसमें प्रति समय उत्पाद आदि तीनों घटित होते रहते हैं।

६६३. उत्पाद व्यय के विना नहीं होता और व्यय उत्पाद के विना नहीं होता। इसी प्रकार उत्पाद और व्यय दोनों त्रिकाल-स्थायी ध्रौव्यअर्थ (आधार) के विना नहीं होते।

६६४. उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (उत्पत्ति, विनाश और स्थिति) ये तीनों द्रव्य में नहीं होते, अपितु द्रव्य की नित्य परिवर्तनशील पर्यायों में होते हैं। परन्तु पर्यायों का समूह द्रव्य है, अतः सब द्रव्य ही है।

६६५. द्रव्य एक ही समय में उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य नामक अर्थों के साथ समवेत–एकमेक है। इसलिए ये तीनों वास्तव में द्रव्य हैं।

६६६. पाडुब्भवदि य अन्नो, पज्जाओ पज्जाओ वयदि अन्नो ।
दव्वस्स तं पि दव्वं, णेव पणट्ठं णेव उप्पन्नं ॥७॥
प्रादुर्भवति चान्य, पर्याय पर्यायो व्ययते अन्यः ।
द्रव्यस्य तदपि द्रव्य, नैव प्रनष्ट नैव उत्पन्नम् ॥७॥

६६७. पुरिसम्मि पुरिससद्दो, जम्माई-मरणकालपज्जन्तो ।
तस्स उ बालाईया, पज्जवजोया बहुवियप्पा ॥८॥
पुरुषे पुरुषशब्दो, जन्मादि-मरणकालपर्यन्त ।
तस्य तु बालादिका, पर्यययोग्या बहुविकल्पा. ॥८॥

६६८. तम्हा वत्थूणं चिय, जो सरिसो पज्जवो स सामन्नं ।
जो विसरिसो विसेसो, य मओऽणत्थंतरं तत्तो ॥९॥
तस्माद् वस्तूनामेव, य सदृश· पर्यव· स सामान्यम् ।
यो विसदृशो विशेष·, स मतोऽनर्थान्तर तत· ॥९॥

६६९. सामन्न अह विसेसे, दव्वे णाणं हवेइ अविरोहो ।
साहइ तं सम्मत्तं, णहु पुण तं तस्स विवरीयं ॥१०॥
सामान्यमथ विशेष, द्रव्ये ज्ञान भवत्यविरोध ।
साधयति तत्सम्यक्त्व, नहि पुनस्तत्तस्य विपरीतम् ॥१०॥

६७०. पिउ-पुत्त-णत्तु-भव्वय-भाऊणं एगपुरिससंबंधो ।
ण य सो एगस्स पिय, त्ति सेसयाणं पिया होइ ॥११॥
पितृ-पुत्र-नातृ-भव्यक-भ्रातृणाम् एक पुरुषसम्बन्ध ।
न च स एकस्य पिता इति शेषकाणा पिता भवति ॥११॥

६७१. सवियप्प-णिवियप्पं इय, पुरिसं जो भणेज्ज अवियप्पं ।
सवियप्पमेव वा णिच्छएण, ण स निच्छओ समए ॥१२॥
सविकल्प-निर्विकल्पम् इति पुरुष यो भणेद् अविकल्पम् ।
सविकल्पमेव वा निश्चयेन न स निश्चित समये ॥१२॥

६७२. अन्नोन्नाणुगयाणं, 'इमं व तं व' त्ति विभयणमजुत्तं ।
जह दुद्ध-पाणियाणं, जावंत विसेसपज्जाया ॥१३॥
अन्योन्यानुगतयो· 'इद वा तद् वा' इति विभजनमयुक्तम् ।
यथा दुग्ध-पानीययो यावन्त विशेषपर्याया ॥१३॥

६६६. द्रव्य की अन्य (उत्तरवर्ती) पर्याय उत्पन्न (प्रकट) होती है और कोई अन्य (पूर्ववर्ती) पर्याय नष्ट (अदृश्य) हो जाती है। फिर भी द्रव्य न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है—द्रव्य के रूप में सदा ध्रुव (नित्य) रहता है।

६६७. पुरुष में पुरुष शब्द का व्यवहार जन्म से लेकर मरण तक होता है। परन्तु इसी बीच बचपन-बुढ़ापा आदि अनेक प्रकार की पर्यायें उत्पन्न हो-होकर नष्ट होती जाती हैं।

६६८. (अतः) वस्तुओं की जो सदृश पर्याय है–दीर्घकाल तक बनी रहनेवाली समान पर्याय है, वही सामान्य है और उनकी जो विसदृश पर्याय है वह विशेष है। ये दोनों सामान्य तथा विशेष पर्यायें उस वस्तु से अभिन्न (कथंचित्) मानी गयी हैं।

६६९. सामान्य तथा विशेष इन दोनों धर्मों से युक्त द्रव्य में होनेवाला विरोध-रहित ज्ञान ही सम्यक्त्व का साधक होता है। उससे विपरीत अर्थात् विरोधयुक्त ज्ञान साधक नहीं होता।

६७०. एक ही पुरुष में पिता, पुत्र, पौत्र, भानेज, भाई आदि अनेक सम्बन्ध होते हैं। (एक ही समय में वह अपने पिता का पुत्र और अपने पुत्र का पिता होता है। अतः एक का पिता होने से वह सबका पिता नहीं होता। यही स्थिति सब वस्तुओं की है।)

६७१. निर्विकल्प तथा सविकल्प उभयरूप पुरुष को जो केवल निर्विकल्प अथवा सविकल्प (एक ही) कहता है, उसकी मति निश्चय ही शास्त्र में स्थिर नहीं है।

६७२. दूध और पानी की तरह अनेक विरोधी धर्मों द्वारा परस्पर घुले-मिले पदार्थ में 'यह धर्म' और 'वह धर्म' का विभाग करना उचित नहीं है। जितनी विशेष पर्यायें हों, उतना ही अविभाग समझना चाहिए।

६७३. संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू, विभज्जवायं च वियागरेज्जा ।
भासादुगं धम्मसमुट्ठितेहिं, वियागरेज्जा समया सुपन्ने ॥१४॥
शङ्कित चाऽशङ्कितभावो भिक्षु विभज्यवाद च व्यागृणीवान् ।
भाषाद्विक च सम्यक् समुत्थितै व्यागृणीयात् समतया सुप्रज्ञ ॥१४॥

३८. प्रमाणसूत्र

(अ) पञ्चविध ज्ञान

६७४. संसयविमोह-विब्भय-विवज्जियं अप्पपरसरूवस्स ।
गहणं सम्मं णाणं, सायारमणेयभेयं तु ॥१॥
सशयविमोह-विभ्रमविवर्जितमात्म-परस्वरूपस्य ।
ग्रहण सम्यग्ज्ञान, साकारमनेकभेदं तु ॥१॥

६७५. तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं ।
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवलं ॥२॥
तत्र पञ्चविधं ज्ञान, श्रुतमाभिनिबोधिकम् ।
अवधिज्ञान तु तृतीयं, मनोज्ञान च केवलम् ॥२॥

६७६. पंचेव होंति णाणा, मदिसुदओहीमणं च केवलयं ।
खयउवसमिया चउरो, केवलणाणं हवे खइयं ॥३॥
पञ्चैव भवन्ति ज्ञानानि, मतिश्रुतावधिमनश्च केवलम् ।
क्षायोपशमिकानि चत्वारि, केवलज्ञान भवेत् क्षायिकम् ॥३॥

६७७. ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा ।
सण्णा सती मती पण्णा, सव्वं आभिणिबोधियं ॥४॥
ईहा अपोह विमर्श. मार्गणा च गवेषणा ।
सज्ञा स्मृति मति प्रज्ञा सर्वम् आभिनिबोधिकम् ॥४॥

६७८. अत्थाओ अत्यंतर-मुवलंभे तं भणंति सुयणाणं ।
आभिणिबोहियपुव्वं, णियमेण य सद्दयं मूलं ॥५॥
अर्थादर्थान्तर-मुपलम्भ त भणन्ति श्रुतज्ञानम् ।
आभिनिबोधिकपूर्वं, नियमेन च शब्दज मूलम् ॥५॥

६७३. सूत्र और अर्थ के विषय में शंकारहित साधु भी गर्वरहित होकर स्याद्वादमय वचन का व्यवहार करे। धर्माचरण में प्रवृत्त साधुओं के साथ विचरण करते हुए सत्यभाषा तथा अनुभय (जो न सत्य हो और न असत्य) भाषा का व्यवहार करे। धनी या निर्धन का भेद न करके समभावपूर्वक धर्म-कथा कहे।

३८. प्रमाणसूत्र

(अ) पंचविध ज्ञान

६७४ संशय, विमोह (विपर्यय) और विभ्रम (अनध्यवसाय) इन तीन मिथ्याज्ञानों से रहित अपने और पर के स्वरूप का ग्रहण करना सम्यग्ज्ञान है। यह वस्तुस्वरूप का यथार्थ निश्चय कराता है, अतएव इसे साकार अर्थात् सविकल्पक (निश्चयात्मक) कहा गया है। इसके अनेक भेद हैं।

६७५ वह ज्ञान पाँच प्रकार का है—आभिनिबोधिक या मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।

६७६ इस प्रकार मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल के रूप में ज्ञान केवल पाँच ही हैं। इनमें से प्रथम चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं, और केवलज्ञान क्षायिक है। (एकदेश क्षय व उपशम से उत्पन्न होने के कारण चार ज्ञान अपूर्ण हैं और समस्त कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने के कारण पाँचवाँ केवलज्ञान परिपूर्ण है।)

६७७ ईहा, अपोह, मीमांसा, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा—ये सब आभिनिबोधिक या मतिज्ञान हैं।

६७८ (अनुमान या लिंगज्ञान की भाँति) अर्थ (शब्द) को जानकर उस पर से अर्थान्तर (वाच्यार्थ) को ग्रहण करना श्रुतज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान नियमतः आभिनिबोधिक ज्ञानपूर्वक होता है। इसके दो भेद हैं—लिंगजन्य और शब्दजन्य। (धुआँ देखकर होनेवाला अग्नि का ज्ञान लिंगज है और वाचक-शब्द सुन या पढ़कर होनेवाला ज्ञान शब्दज है।) आगम में शब्दज श्रुतज्ञान का प्राधान्य है।

६७९. इंदियमणोनिमित्तं, जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं।
नियययत्थुत्तिसमत्थं, त भावसुयं मई सेसं॥६॥
इन्द्रियमनोनिमित्त, यद्विज्ञान श्रुतानुसारेण।
निजकार्योक्तिसमर्थं, तद् भावश्रुत मति शेषम्॥६॥

६८०. मइपुव्वं सुयमुत्तं, न मई सुयपुव्विया विसेसोऽयं।
पुव्वं पूरणपालण-भावाओ जं मई तस्स॥७॥
मतिपूर्वं श्रुतमुक्त, न मति श्रुतपूर्विका विशेषोऽयम्।
पूर्वं पूरणपालन - भावाद्यद् मतिस्तस्य॥७॥

६८१. अवहीयदित्ति ओही, सीमाणाणेत्ति वण्णियं समए।
भवगुणपच्चय-विहियं, तमोहिणाण त्ति णं विंति॥८॥
अवधीयत इत्यवधि, सीमाज्ञानमिति वर्णितं समये।
भवगुणप्रत्ययविधिक, तदवधिज्ञानमिति ब्रुवन्ति॥८॥

६८२. चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतिय अणेयभेयगयं।
मणपज्जव त्ति णाणं, जं जाणइ तं तु णरलोए॥९॥
चिन्तितमचिन्तित वा, अर्द्ध चिन्तितमनेकभेदगतम्।
मन पर्यय ति ज्ञान, यज्जानाति तत्तु नरलोके॥९॥

६८३. केवलमेगं सुद्धं, सगलमसाहारणं अणंतं च।
पायं च नाणसद्दो, नामसमाणाहिगरणोऽयं॥१०॥
केवलमेक शुद्ध, सकलमसाधारणमनन्त च।
प्रायश्च ज्ञानशब्दो, नामसमानाधिकरणोऽयम्॥१०॥

६८४. संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं।
तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च॥११॥
संभिन्न पश्यन्, लोकमलोक च सर्वत सर्वम्।
तन्नास्ति यत्र पश्यति, भूत भव्य भविष्यच्च॥११॥

६७९ इन्द्रिय और मन के निमित्त से श्रुतानुसारी होनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। वह अपने विषयभूत अर्थ को दूसरे से कहने मे समर्थ होता है। शेष इन्द्रिय और मन के निमित्त से होनेवाला अश्रुतानुसारी अवग्रहादि ज्ञान मतिज्ञान है। (इससे स्वय तो जाना जा सकता है, किन्तु दूसरे को नही समझाया जा सकता।)

६८० आगम मे कहा गया है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञानपूर्वक नही होता। यही दोनो ज्ञानो मे अन्तर है। 'पूर्व' शब्द 'पृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है पालन और पूरण। श्रुत का पूरण और पालन करने से मति-ज्ञान पूर्व मे ही होता है। अत मतिपूर्वक ही श्रुत कहा गया है।

६८१ 'अवधीयते इति अवधि' अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादा-पूर्वक रूपी पदार्थो को एकदेश जाननेवाले ज्ञान को अवधि-ज्ञान कहते हे। इसे आगम मे सीमाज्ञान भी कहा गया है। इसके दो भेद हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय।

६८२ जो ज्ञान मनुष्यलोक मे स्थित जीव के चिन्तित, अचिंतित, अर्ध-चिंतित आदि अनेक प्रकार के अर्थ से मन को प्रत्यक्ष जानता है, वह मन पर्ययज्ञान है।

६८३ केवल शब्द के एक, शुद्ध, सकल, असाधारण और अनन्त आदि अर्थ हे। अत केवलज्ञान एक है अर्थात् इन्द्रियादि की सहायता से रहित है और उसके होने पर अन्य सब ज्ञान निवृत्त हो जाते है, इसीलिए केवलज्ञान एकाकी है। मलकलक से रहित होने से शुद्ध है। सम्पूर्ण ज्ञेयो का ग्राहक होने से सकल है। इसके समान और कोई ज्ञान नही है, अत असाधारण है। इसका कभी अन्त नही होता अत अनत है।

६८४ केवलज्ञान लोक और अलोक को सर्वत परिपूर्ण रूप से जानता है। भूत, भविष्य और वर्तमान मे ऐसा कुछ भी नही है जिसे केवलज्ञान नही जानता।

(आ) प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण

६८५. गेण्हइ वत्थुसहावं, अविरुद्धं सम्मरूवं जं णाणं।
भणियं खु तं पमाणं, पच्चक्खपरोक्खभेएहिं ॥१२॥

गृह्णाति वस्तुस्वभावम्, अविरुद्ध सम्यग्रूप यज्ज्ञानम् ।
भणितं खलु तत् प्रमाण, प्रत्यक्षपरोक्षभेदाभ्याम् ॥१२॥

६८६. जीवो अक्खो अत्थव्वण - भोयणगुणन्निओ जेणं।
तं पइ वट्टइ नाणं, जे पच्चक्खं तयं तिविहं ॥१३॥
जीव अक्ष अर्थव्यापन - भोजनगणान्वितो येन।
त प्रति वर्तते ज्ञान, यत् प्रत्यक्ष तत् त्रिविधम् ॥१३॥

६८७. अक्खस्स पोग्गलकया, जं दव्विन्दियमणा परा तेणं।
तेहिं तो जं नाणं, परोक्खमिह तमणुमाणं व ॥१४॥
अक्षस्य पुद्गलकृतानि यत्, द्रव्येन्द्रियमनांसि पराणि तेन ।
तैस्तस्माद् यज्ज्ञान, परोक्षमिह तदनुमानमिव ॥१४॥

६८८. होंति परोक्खाइं मइ-सुयाइं जीवस्स परनिमित्ताओ।
पुव्वोवलद्धसंबंध-सरणाओ वाणुमाणं व ॥१५॥
भवत परोक्षे मति-श्रुते जीवस्य परनिमित्तात्।
पूर्वोपलब्धसम्बन्ध-स्मरणाद् वाऽनुमानमिव ॥१५॥

६८९. एगंतेण परोक्खं, लिंगियमोहाइयं च पच्चक्खं।
इंदियमणोभवं जं, तं संववहारपच्चक्खं ॥१६॥
एकान्तेन परोक्ष, लैङ्गिकमव्ध्यादिकं च प्रत्यक्षम्।
इन्द्रियमनोभव यत्, तत् सव्यवहारप्रत्यक्षम् ॥१६॥

३९. नयसूत्र

६९०. जं णाणीण वियप्पं, सुयभेयं वत्थुअंससंगहणं।
तं इह णयं पउत्तं, णाणी पुण तेण णाणेण ॥१॥
यो ज्ञानिना विकल्प, श्रुतभेदो वस्त्वशसग्रहणम्।
स इह नय प्रयुक्त, ज्ञानी पुनस्तेन ज्ञानेन ॥१॥

(आ) प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण

६८५ जो ज्ञान वस्तु-स्वभाव को—यथार्थस्वरूप को—सम्यक्‌रूप से जानता है, उसे प्रमाण कहते हैं। इसके दो भेद हैं—प्रत्यक्ष-प्रमाण और परोक्षप्रमाण।

६८६ जीव को 'अक्ष' कहते हैं। यह शब्द 'अशु व्याप्तौ' धातु से बना है। जो ज्ञानरूप मे समस्त पदार्थो मे व्याप्त है, वह अक्ष अर्थात् जीव है। 'अक्ष' शब्द की व्युत्पत्ति भोजन के अर्थ मे 'अश्' धातु से भी की जा सकती है। जो तीनो लोक की समस्त समृद्धि आदि को भोगता है वह अक्ष अर्थात् जीव है। इस तरह दोनो व्युत्पत्तियो से (अर्थव्यापन व भोजनगुण से) जीव का अक्ष अर्थ सिद्ध होता है। उस अक्ष से होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। इसके तीन भेद हैं—अवधि, मन पर्यय और केवल।

६८७ पौद्गलिक होने के कारण द्रव्येन्द्रियाँ और मन 'अक्ष' अर्थात् जीव से 'पर' (भिन्न) है। अत उनसे होनेवाला ज्ञान परोक्ष कहलाता है। जैसे अनुमान मे धूम से अग्नि का ज्ञान होता है, वैसे ही परोक्षज्ञान भी 'पर' के निमित्त से होता है।

६८८ जीव के मति और श्रुत-ज्ञान परनिमित्तक होने के कारण परोक्ष है। अथवा अनुमान की तरह पहले से उपलब्ध अर्थ के स्मरण द्वारा होने के कारण भी वे परनिमित्तक हैं। (परनिमित्तक अर्थात् मन और इन्द्रियो की सहायता से होनेवाला ज्ञान)।

६८९ धूम आदि लिंग से होनेवाला श्रुतज्ञान तो एकान्तरूप से परोक्ष ही है। अवधि, मन पर्यय और केवल ये तीनो ज्ञान एकान्तरूप से प्रत्यक्ष ही है। किन्तु इन्द्रिय और मन से होनेवाला मतिज्ञान लोकव्यवहार मे प्रत्यक्ष माना जाता है। इसलिए वह साव्यव-हारिक प्रत्यक्ष कहलाता है।

३९. नयसूत्र

६९० श्रुतज्ञान के आश्रय से युक्त वस्तु के अश को ग्रहण करनेवाले ज्ञानी के विकल्प को 'नय' कहते है। उस ज्ञान से जो युक्त है वही ज्ञानी है।

६९१. जम्हा ण णएण विणा, होइ णरस्स सियवायपडिवत्ती ।
तम्हा सो वोहव्वो, एयंतं हंतुकामेण ॥२॥
यस्मान्न नयेन विना, भवति नरस्य स्याद्वादप्रतिपत्ति ।
तस्मात्स बोद्धव्य, एकान्त हन्तुकामेन ॥२॥

६९२. धम्मविहीणो सोक्खं, तण्हाछेयं जलेण जह रहिदो ।
तह इह वंछइ मूढो, णयरहिओ दव्वणिच्छिती ॥३॥
धर्म्मविहीन: सोख्य, तृष्णाच्छेद जलेन यथा रहित ।
तथेह वाञ्छति मूढो, नयरहितो द्रव्यनिश्चिती ॥३॥

६९३. तित्थयरवयणसंगह-विसेसपत्थार-मूलवागरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ, य सेसा वियप्पा सिं ॥४॥
तीर्थंकरवचनसग्रहविशेषप्रस्तार - मूलव्याकरणी ।
द्रव्यार्थिकश्च पर्यवनयश्च, शेपा विकल्पा एतेपाम् ॥४॥

६९४. दव्वट्ठियवत्तव्वं, अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स ।
तह पज्जववत्थु, अवत्थुमेव दव्वट्ठियनयस्स ॥५॥
द्रव्यार्थिकवक्तव्य - मवस्तु नियमेन पर्यवनयस्य ।
तथा पर्यववस्तु, अवस्तु एव द्रव्यार्थिकनयस्य ॥५॥

६९५. उप्पज्जंति वियंति य, भावा नियमेण पज्जवनयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं, सया अणुप्पन्नमविणट्ठं ॥६॥
उत्पद्यन्ते व्ययन्ति च, भावा नियमेन पर्यवनयस्य ।
द्रव्यार्थिकस्य सर्व, सदानुत्पन्नमविनष्टम् ॥६॥

६९६. दव्वट्ठिएण सव्वं, दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो ।
हवदि य अन्नमणन्नं, तक्काले तम्मयत्तादो ॥७॥
द्रव्यार्थिकेन सर्व, द्रव्य तत्पर्यायार्थिकेन पुन ।
भवति चान्यद् अनन्यत्-तत्काले तन्मयत्वात् ॥७॥

६९७. पज्जय गउणं किच्चा, दव्वं पि य जो हु गिण्हइ लोए ।
सो दव्वत्थिय भणिओ, विवरीओ पज्जयत्थिणओ ॥८॥
पर्यय गौण कृत्वा, द्रव्यमपि च यो हि गृह्णाति लोके ।
स द्रव्यार्थिको भणितो, विपरीत. पर्ययार्थिनय ॥८॥

६९१ नय के विना मनुष्य को स्याद्वाद का बोध नही होता । अत· जो एकान्त का या एकान्त आग्रह का परिहार करना चाहता है, उसे नय को अवश्य जानना चाहिए ।

६९२ जैसे धर्मविहीन मनुष्य सुख चाहता है या कोई जल के विना अपनी प्यास बुझाना चाहता है, वैसे ही मूढजन नय के विना द्रव्य के स्वरूप का निश्चय करना चाहता है ।

६९३ तीर्थंकरो के वचन दो प्रकार के है—सामान्य और विशेष । दोनो प्रकार के वचनो की राशियो के (सग्रह के) मूल प्रतिपादक नय भी दो ही है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । शेष सब नय इन दोनो के ही अवान्तर भेद है । (द्रव्यार्थिक नय वस्तु के सामान्य अश का प्रतिपादक है और पर्यायार्थिक विशेपाश का ।)

६९४ द्रव्यार्थिक नय का वक्तव्य (सामान्यांश) पर्यायार्थिक नय के लिए नियमत अवस्तु है और पर्यायार्थिक नय की विषयभूत वस्तु (विशेपाश) द्रव्यार्थिक नय के लिए अवस्तु है ।

६९५. पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से पदार्थ नियमत उत्पन्न होते है और नष्ट होते है । और द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से सकल पदार्थ सदैव अनुत्पन्न और अविनाशी होते है ।

६९६ द्रव्यार्थिक नय से सभी द्रव्य है और पर्यायार्थिक नय से वह अन्य-अन्य है, क्योकि जिस समय मे जिस नय से वस्तु को देखते है, उस समय वह वस्तु उसी रूप मे दृष्टिगोचर होती है ।

६९७. जो ज्ञान पर्याय को गौण करके लोक मे द्रव्य का ही ग्रहण करता है, उसे द्रव्यार्थिक नय कहा गया है । और जो द्रव्य को गौण करके पर्याय का ही ग्रहण करता है, उसे पर्यायार्थिक नय कहा गया है ।

६९८. नेगम-संगह-ववहार-उज्जुसुए चेव होई बोधव्वा ।
सद्दे य समभिरूढे, एवंभूए य मूलनया ॥९॥
नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्रश्च भवति बोद्धव्य. ।
शब्दश्च समभिरूढ, एवभूतश्च मूलनयाः ॥९॥

६९९. पढमतिया दव्वत्थी, पज्जयगाही य इयर जे भणिया ।
ते चदु अत्थपहाणा, सद्दपहाणा हु तिण्णि या ॥१०॥
प्रथमत्रिका द्रव्यार्थिका, पर्यायग्राहिणश्चेतरे ये भणिताः ।
ते चत्वारोऽर्थप्रधानाः, शब्दप्रधाना. हि त्रयो नया. ॥१०॥

७००. णेगाइं माणाइं, सामन्नोभयविसेसनाणाइं ।
जं तेहिं मिणइ तो, णेगमो णओ णेगमाणो त्ति ॥११॥
नैकानि मानानि, सामान्योभय-विशेषज्ञानानि ।
यत्तैर्मिनोति ततो, नैगमो नयो नैकमान इति ॥११॥

७०१. णिव्वित्त दव्वकिरिया, वट्टणकाले दु जं समाचरणं ।
तं भूयणइगमणयं, जह अज्जदिणं निव्वुओ वीरो ॥१२॥
निर्वृत्ता द्रव्यक्रिया, वर्तने काले तु यत् समाचरणम् ।
स भूतनैगमनयो, यथा अद्य दिन निर्वृतो वीर. ॥१२॥

७०२. पारद्धा जा किरिया, पयणविहाणादि कहइ जो सिद्धं ।
लोए य पुच्छमाणे, तं भण्णइ वट्टमाणणयं ॥१३॥
प्रारब्धा या क्रिया, पचनविधानादि कथयति य. सिद्धाम् ।
लोके च पृच्छयमाने, स भण्यते वर्तमाननय ॥१३॥

७०३. णिप्पण्णमिव पयंपदि, भाविपदत्थं णरो अणिप्पण्णं ।
अप्पत्थे जह पत्थं, भण्णइ सो भावि णइगमो त्ति णओ ॥१४॥
निष्पन्नमिव प्रजल्पति, भाविपदार्थं नरोऽनिष्पन्नम् ।
अप्रस्थे यथा प्रस्थ, भण्यते स भाविनैगम इति नय. ॥१४॥

६९८ (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के भेद रूप) मूल नय सात है—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत।

६९९ इनमें से प्रथम तीन नय द्रव्यार्थिक है और शेष चार नय पर्यायार्थिक है। सातो मे से पहले चार नय अर्थप्रधान है और अन्तिम तीन नय शब्दप्रधान है।

७०० सामान्यज्ञान, विशेषज्ञान तथा उभयज्ञान रूप से जो अनेक मान लोक मे प्रचलित है उन्हे जिसके द्वारा जाना जाता है वह नैगम नय है। इसीलिए उसे 'नयिकमान' अर्थात् विविधरूप से जानना कहा गया है।

७०१ (भूत, वर्तमान और भविष्य के भेद से नैगमनय तीन प्रकार का है।) जो द्रव्य या कार्य भूतकाल मे समाप्त हो चुका हो उसका वर्तमानकाल में आरोपण करना भूत नैगमनय है। जैसे हजारो वर्ष पूर्व हुए भगवान् महावीर के निर्वाण के लिए निर्वाण-अमावस्या के दिन कहना कि 'आज वीर भगवान् का निर्वाण हुआ है।'

७०२ जिस कार्य को अभी प्रारम्भ ही किया है उसके बारे मे लोगो के पूछने पर 'पूरा हुआ कहना' जैसे भोजन बनाना प्रारम्भ करने पर ही यह कहना कि 'आज भात बनाया है' यह वर्तमान नैगमनय है।

७०३. जो कार्य भविष्य मे होनेवाला है उसके निष्पन्न न होने पर भी निष्पन्न हुआ कहना भावी नैगमनय है। जैसे जो अभी गया नही है उसके लिए कहना कि 'वह गया'।

७०४. अवरोप्परमविरोहे, सव्वं अत्थि त्ति सुद्धसंगहणे ।
होइ तमेव असुद्धं, इगजाइविसेसगहणेण ॥१५॥
परस्परमविरोधे, सर्वमस्तीति शुद्धसङ्ग्रहणम् ।
भवति स एवाशुद्ध, एकजातिविशेषग्रहणेन ॥१५॥

७०५. जं संगहेण गहियं, भेयइ अत्थं असुद्ध सुद्धं वा ।
सो ववहारो दुविहो, असुद्धसुद्धत्थभेयकरो ॥१६॥
य संग्रहेण गृहीत, भिनत्ति अर्थ अशुद्ध शुद्ध वा ।
स व्यवहारो द्विविधोऽशुद्धशुद्धार्थभेदकर ॥१६॥

७०६. जो एयसमयवट्टी, गिह्णइ दव्वे धुवत्तपज्जायं ।
सो रिउसुत्तो सुहुमो, सव्वं पि सद्दं जहा खणियं ॥१७॥
य एकसमयवर्तिन, गृह्णाति द्रव्ये ध्रुवत्वपर्यायम् ।
स ऋजुसूत्र सूक्ष्म, सर्वोऽपि शब्द यथा क्षणिक. ॥१७॥

७०७. मणुयाइयपज्जाओ, मणुसो त्ति सगट्ठिदीसु वट्टंतो ।
जो भणइ तावकालं, सो थूलो होइ रिउसुत्तो ॥१८॥
मनुजादिकपर्यायो, मनुष्य इति स्वकस्थितिषु वर्तमान ।
य भणति तावत्काल, स स्थूलो भवति ऋजुसूत्र ॥१८॥

७०८. सवणं सपइ स तेणं, व सप्पए वत्थु जं तओ सद्दो ।
तस्सत्थपरिग्गहओ, नओ वि सद्दो त्ति हेउ व्व ॥१९॥
शपनं शपति स तेन, वा शप्यते वस्तु यत् तत शब्द ।
तस्यार्थपरिग्रहतो, नयोऽपि शब्द इति हेतुरिव ॥१९॥

७०९. जो वट्टणं ण मण्णइ, एयत्थे भिन्नलिंगआईणं ।
सो सद्दणओ भणिओ, णेओ पुस्साइआण जहा ॥२०॥
यो वर्तन च मन्यते, एकार्थे भिन्नलिङ्गादीनाम् ।
स शब्दनयो भणित, ज्ञेय पुष्यादीना यथा ॥२०॥

७१०. अहवा सिद्धे सद्दे, कीरइ जं किं-पि अत्थववहरणं ।
तं खलु सद्दे विसयं, 'देवो' सद्देण जह देवो ॥२१॥
अथवा सिद्ध शब्द, करोति यत् किमपि अर्थव्यवहरणम् ।
तत् खलु शब्दस्य विषय, 'देव' शब्देन यथा देव ॥२१॥

७०४. संग्रहनय के दो भेद हैं—शुद्धसंग्रहनय और अशुद्धसंग्रहनय। शुद्धसंग्रहनय में परस्पर में विरोध न करके सत्‌रूप से सवका ग्रहण होता है। उसमें से एक जातिविशेष को ग्रहण करने से वही अशुद्धसंग्रहनय होता है।

७०५. जो संग्रहनय के द्वारा गृहीत शुद्ध अथवा अशुद्ध अर्थ का भेद करता है, वह व्यवहारनय है। यह भी दो प्रकार का है—एक अशुद्धार्थ-भेदक और दूसरा शुद्धार्थ-भेदक।

७०६. जो द्रव्य में एकसमयवर्ती (वर्तमान) अध्रुव पर्याय को ग्रहण करता है उसे सूक्ष्मऋजुसूत्रनय कहते हैं। जैसे सव सत्‌क्षणिक है।

७०७. और जो अपनी स्थितिपर्यन्त रहनेवाली मनुष्यादि पर्याय को उतने समय तक एक मनुष्यरूप से ग्रहण करता है, वह स्थूल-ऋजुसूत्रनय है।

७०८. शपन अर्थात् आह्वान शव्द है, अथवा जो 'शपति' अर्थात् आह्वान करता है वह शव्द है। अथवा 'शप्यते' जिसके द्वारा वस्तु को कहा जाता है वह शव्द है। उस शव्द का वाच्य जो अर्थ है, उसको ग्रहण करने से नय को भी शव्द कहा गया है।

७०९. जो एकार्थवाची शव्दों में लिंग आदि के भेद से अर्थभेद मानता है, उसे शव्दनय कहा गया है। जैसे पुष्य शव्द पुल्लिग में नक्षत्र का वाचक है और पुष्या स्त्रीलिंग तारिका का बोध कराती है।

७१०. अथवा व्याकरण से सिद्ध शव्द में अर्थ का जो व्यवहार किया जाता है, उसी अर्थ को उस शव्द के द्वारा ग्रहण करना शव्दनय है। जैसे देव शव्द के द्वारा उसका सुग्रहीत अर्थ देव अर्थात् सुर ही ग्रहण करना।

७११. सद्दारूढो अत्थो, अत्थारूढो तहेव पुण सद्दो ।
भणइ इह समभिरूढो, जह इंद पुरंदरो सक्को ।।२२।।
शब्दारूढोऽर्थोऽर्थारूढस्तथैव पुन शब्द ।
भणति इह समभिरूढो, यथा इन्द्र पुरन्दर शक्र ।।२२।।

७१२. एवं जह सद्दत्थो, संतो भूओ तदन्नहाऽभूओ ।
तेणेवंभूयनओ, सद्दत्थपरो विसेसेण ।।२३।।
एव यथा शब्दार्थ, सन् भूतस्तदन्यथाऽभूत ।
तेनैवभूतनय, शब्दार्थपरो विशेषेण ।।२३।।

७१३. जं जं करेइ कम्मं, देही मणवयणकायचेट्ठादो ।
तं तं खु णामजुत्तो, एवंभूओ हवे स णओ ।।२४।।
यद् यद् कुरुते कर्म, देही मनोवचनकायचेष्टात ।
तत् तत् खलु नामयुक्त, एवभूतो भवेत् स नय ।।२४।।

४०. स्याद्वाद व सप्तभङ्गीसूत्र

७१४. अवरोप्परसावेक्खं, णयविसय अह पमाणविसयं वा ।
त सावेक्खं भणियं, णिरवेक्खं ताण विवरीयं ।।१।।
परस्परसापेक्षो, नयविषयोऽथ प्रमाणविषयो वा ।
तत् सापेक्ष भणित, निरपेक्ष तयोर्विपरीतम् ।।१।।

७१५. णियमणिसेहणसीलो, णिपादणादो य जो हु खलु सिद्धो ।
सो सियसद्दो भणिओ, जो सावेक्खं पसाहेदि ।।२।।
नियमनिषेधनशीलो, निपातनाच्च य खलु सिद्ध ।
स स्याच्छब्दो भणित, य सापेक्ष प्रसाधयति ।।२।।

७१६. सत्तेव हुंति भंगा, पमाणणयदुणयभेदजुत्ता वि।
सिय सावेक्खं पमाणं, णएण णय दुणय णिरवेक्खा ॥३॥
सप्तैव भवन्ति भङ्गा, प्रमाणनयदुर्नयभेदयुक्ता अपि।
स्यात् सापेक्ष प्रमाण, नयेन नया दुर्नया निरपेक्षा ॥३॥

७१७. अत्थि त्ति णत्थि दो वि य, अव्वत्तव्व सिएण संजुत्तं।
अव्वत्तव्वा ते तह, पमाणभंगी सुणायव्वा ॥४॥
अस्तीति नास्ति द्वावपि, च अवक्तव्य स्याता संयुक्तम्।
अवक्तव्यास्ते तथा, प्रमाणभङ्गी सुज्ञातव्या ॥४॥

७१८. अत्थिसहाव दव्वं, सद्दव्वादीसु गाहियणएण।
त पि य णत्थिसहावं, परदव्वादीहि गहिएण ॥५॥
अस्तिस्वभाव द्रव्य, स्वद्रव्यादिषु ग्राहकनयन।
तदपि च नास्तिस्वभाव, परद्रव्यादिभिर्गृहीतेन ॥५॥

७१९. उहय उहयणएण, अव्वत्तव्वं च तेण समुदाए।
ते तिय अव्वत्तव्वा, णियणियणयअत्थसंजोए ॥६॥
उभयमुभयनयेना-वक्तव्य च तेन समुदाये।
ते त्रिका अवक्तव्या, निजनिजनयार्थसयोगे ॥६॥

७२०. अत्थि त्ति णत्थि उहयं, अव्वत्तव्व तहेव पुण तिदयं।
तह सिय णयणिरवेक्खं, जाणसु दव्वे दुणयभंगी ॥७॥
अस्तीति नास्त्युभयम-वक्तव्य तथैव पुनस्त्रितयम्।
तथा स्यात् नयनिरपेक्ष, जानीहि द्रव्येषु दुर्नयभङ्गी ॥७॥

७२१. एकणिरुद्धे इयरो, पडिवक्खो अवरे य सब्भावो।
सव्वेसिं स सहावे, कायव्वा होइ तह भंगा ॥८॥
एकनिरुद्धे इतर, प्रतिपक्षो अपरश्च स्वभाव।
सर्वेषा स स्वभावे, कर्तव्या भवन्ति तथा भङ्गा ॥८॥

७१६. (अनेकान्तात्मक वस्तु की सापेक्षता के प्रतिपादन मे प्रत्येक वाक्य के साथ 'स्यात्' लगाकर कथन करना स्याद्वाद का लक्षण है।) इस न्याय में प्रमाण, नय और दुर्नय के भेद से युक्त सात भग होते है। 'स्यात्'–सापेक्ष भगो को प्रमाण कहते है। नय-युक्त भगो को नय कहते है और निरपेक्ष भगो को दुर्नय।

७१७ स्यात् अस्ति, स्यात्नास्ति, स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति-अवक्तव्य, स्यात् नास्ति-अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति-अव्यक्तव्य—इन्हे प्रमाण सप्तभगी जानना चाहिए।

७१८. स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव की अपेक्षा द्रव्य अस्तिस्वरूप है। वही पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की अपेक्षा नास्तिस्वरूप है।

७१९. स्व-द्रव्यादि चतुष्टय और पर-द्रव्यादि चतुष्टय दोनो की अपेक्षा लगाने पर एक ही वस्तु स्यात्-अस्ति और स्यात्-नास्ति स्वरूप होती है। दोनो धर्मों को एक साथ कहने की अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य है। इसी प्रकार अपने-अपने नय के साथ अर्थ की योजना करने पर अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य और अस्ति-नास्ति अवक्तव्य है।

७२०. स्यात् पद तथा नय-निरपेक्ष होने पर यही सातो भग दुर्नय-भगी कहलाते है। जैसे वस्तु अस्ति ही है, नास्ति ही है, उभयरूप ही है, अवक्तव्य ही है, अस्ति-अवक्तव्य ही है, नास्ति-अवक्तव्य ही है या अस्ति-नास्ति अवक्तव्य ही है। (किसी एक ही पहलू या दृष्टिकोण पर जोर देना या आग्रह रखना तथा दूसरे की सर्वथा उपेक्षा करना दुर्नय है।)

७२१. वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करने पर उसके प्रतिपक्षी दूसरे धर्म का भी ग्रहण अपने-आप हो जाता है, क्योकि दोनो ही धर्म वस्तु के स्वभाव है। अत सभी वस्तु-धर्मो मे सप्त-भगी की योजना करना चाहिए।

४१. समन्वयसूत्र

७२२. सव्वं पि अणेयंतं, परोक्खरूवेण जं पयासेदि।
तं सुयमाण भण्णदि, संसय-पहुदीहि परिचत्तं ॥१॥
सर्वमपि अनेकान्तं, परोक्षरूपेण यत् प्रकाशयति।
तत् श्रुतज्ञानं भण्यते, संशयप्रभृतिभिः परित्यक्तम् ॥१॥

७२३. लोयाणं ववहारं, धम्म-विवक्खाइ जो पसाहेदि।
सुयणाणस्स वियप्पो, सो वि णओ लिंगसंभूदो ॥२॥
लोकानां व्यवहारं, धर्मविवक्षया यः प्रसाधयति।
श्रुतज्ञानस्य विकल्पः, स अपि नयः लिङ्गसम्भूतः ॥२॥

७२४. णाणाधम्मजुदं पि य, एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं।
तस्सेयविवक्खादो, णत्थि विवक्खा हु सेसाणं ॥३॥
नानाधर्मयुतः अपि च, एकः धर्मः अपि उच्यते अर्थः।
तस्य एकविवक्षातः, नास्ति विवक्षा खलु शेषाणाम् ॥३॥

७२५. ते सावेक्खा सुणया, णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति।
सयल-ववहार-सिद्धी, सुणयादो होदि णियमेण ॥४॥
ते सापेक्षाः सुनयाः, निरपेक्षाः ते अपि दुर्नयाः भवन्ति।
सकलव्यवहारसिद्धिः, सुनयाद् भवति नियमेन ॥४॥

७२६. जावंतो वयणपधा, तावंतो वा नया 'वि' सद्दाओ।
ते चेव य परसमया, सम्मत्तं समुदिया सव्वे ॥५॥
यावन्तो वचनपथा-स्तावन्तो वा नया 'अपि'शब्दात्।
ते एव च परसमयाः, सम्यक्त्वं समुदिताः सर्वे ॥५॥

७२७. परसमएगनयमयं, तप्पडिवक्खनयओ निवत्तेज्जा।
समए व परिग्गहियं, परेण जं दोसबुद्धीए ॥६॥
परसमयैकनयमतं, तत्प्रतिपक्षनयतो निवर्तयेत्।
समये वा परिगृहीतं, परेण यद् दोषबुद्ध्या ॥६॥

४१. समन्वयसूत्र

७२२. जो परोक्षरूप से समस्त वस्तुओं को अनेकान्तरूप दर्शाता है और संशय आदि से रहित है, वह ज्ञान श्रुतज्ञान है।

७२३. जो वस्तु के किसी एक धर्म की विवक्षा या अपेक्षा से लोक-व्यवहार को साधता है, वह नय है। नय श्रुतज्ञान का भेद है और लिंग से उत्पन्न होता है।

७२४. अनेक धर्मों से युक्त वस्तु के किसी एक धर्म को ग्रहण करना नय का लक्षण है। क्योंकि उस समय उसी धर्म की विवक्षा है, शेष धर्मों की विवक्षा नहीं है।

७२५. वे नय (विरोधी होने पर भी) सापेक्ष हों तो सुनय कहलाते हैं और निरपेक्ष हों तो दुर्नय। सुनय से ही नियमपूर्वक समस्त व्यवहारों की सिद्धि होती है।

७२६. (वास्तव में देखा जाय तो लोक में—) जितने वचन-पन्थ हैं, उतने ही नय हैं, क्योंकि सभी वचन वक्ता के किसी न किसी अभिप्राय या अर्थ को सूचित करते हैं और ऐसे वचनों में वस्तु के किसी एक धर्म की ही मुख्यता होती है। अतः जितने नय सावधारण (हठग्राही) हैं, वे सब पर-समय हैं, मिथ्या हैं; और अवधारणरहित (सापेक्षसत्यग्राही) तथा स्यात् शब्द से युक्त समुदित सभी नय सम्यक् होते हैं।

७२७. नय-विधि के ज्ञाता को पर-समयरूप (एकान्त या आग्रहपूर्ण) अनित्यत्व आदि के प्रतिपादक ऋजुसूत्र आदि नयों के अनुसार लोक में प्रचलित मतों का निवर्तन या परिहार नित्यादि का कथन करनेवाले द्रव्यार्थिक नय से करना चाहिए। तथा स्वसमयरूप जिन-सिद्धान्त में भी अज्ञान या द्वेष आदि दोषों से युक्त किसी व्यक्ति ने दोषबुद्धि से कोई निरपेक्ष पक्ष अपना लिया हो तो उसका भी निवर्तन (निवारण) करना चाहिए।

७२८. णिययवयणिज्जसच्चा, सव्वनया परवियालणे मोहा ।
ते उण ण दिट्ठसमओ, विभयइ सच्चे व अलिए वा ॥७॥
निजकवचनीयसत्या, सर्वनया परविचारणे मोघाः ।
तान् पुन न दृष्टसमयो, विभजति सत्यान् वा अलीकान् वा ॥७॥

७२९. न समेन्ति न य समेया, सम्मत्तं नेव वत्थुणो गमगा ।
वत्थुविघायाय नया, विरोहओ वेरिणो चेव ॥८॥
न समयन्ति न च समेता, सम्यक्त्वं नैव वस्तुनो गमकाः ।
वस्तुविघाताय नयाः, विरोधतो वैरिण इव ॥८॥

७३०. सव्वे समयंति सम्मं, चेगवसाओ नया विरुद्धा वि ।
भिच्च-ववहारिणो इव, राओदासीण-वसवत्ती ॥९॥
सर्वे समयन्ति सम्यक्त्वं, चैकवशाद् नया विरुद्धा अपि ।
भृत्यव्यवहारिण इव, राजोदासीन-वशवर्तिनः ॥९॥

७३१. जमणेगधम्मणो वत्थुणो, तदंसे च सव्वपडिवत्ती ।
अंध व्व गयावयवे तो, मिच्छाद्दिट्ठिणो वीसु ॥१०॥
यदनेकधर्मणो वस्तुनस्तदंशे च सर्वप्रतिपत्तिः ।
अन्धा इव गजावयवे, ततो मिथ्यादृष्टयो विष्वक् ॥१०॥

७३२. जं पुण समत्तपज्जाय - वत्थुगमग त्ति समुदिया तेणं ।
सम्मत्तं चक्खुमओ, सव्वगयावयवगहणे व्व ॥११॥
यत्पुनः समस्तपर्याय-वस्तुगमका इति समुदितास्तेन ।
सम्यक्त्वं चक्षुष्मन्तः, सर्वगजावयवग्रहण इव ॥११॥

७२८ सभी नय अपने-अपने वक्तव्य मे सच्चे है, किन्तु यदि दूसरे नयो के वक्तव्य का निराकरण करते है तो मिथ्या है। अनेकान्त-दृष्टि का या शास्त्र का ज्ञाता उन नयो का ऐसा विभाजन नही करता कि 'ये सच्चे है' और 'वे झूठे है'।

७२९ निरपेक्ष नय न तो सामुदायिकता को प्राप्त होते है और न वे समुदायरूप कर देने पर सम्यक् होते है। क्योकि प्रत्येक नय मिथ्या होने से उनका समुदाय तो महामिथ्यारूप होगा। समुदायरूप होने से भी वे वस्तु के गमक नहीं होते, क्योकि पृथक्-पृथक् अवस्था मे भी वे गमक नही है। इसका कारण यह है कि निरपेक्ष होने के कारण वैरी की भाँति परस्पर विरोधी है।

७३०. जैसे नाना अभिप्रायवाले अनेक सेवक एक राजा, स्वामी या अधिकारी के वश मे रहते है, या आपस मे लडने-झगडनेवाले व्यवहारी-जन किसी उदासीन (तटस्थ) व्यक्ति के वशवर्ती होकर मित्रता को प्राप्त हो जाते है, वैसे ही ये सभी परस्पर विरोधी नय स्याद्वाद की शरण मे जाकर सम्यक्भाव को प्राप्त हो जाते है। अर्थात् स्याद्वाद की छत्रछाया मे परस्पर विरोध का कारण सावधारणता दूर हो जाती है और वे सब सापेक्षतापूर्वक एकत्र हो जाते है।

७३१ जैसे हाथी के पूँछ, पैर, सूड आदि टटोलकर एक-एक अवयव को ही हाथी माननेवाले जन्मान्ध लोगो का अभिप्राय मिथ्या होता है, वैसे ही अनेक धर्मात्मक वस्तु के एक-एक अग को ग्रहण करके 'हमने पूरी वस्तु जान ली है' ऐसी प्रतिपत्ति करनेवालो का उस वस्तुविषयक ज्ञान मिथ्या होता है।

७३२ तथा जैसे हाथी के समस्त अवयवो के समुदाय को हाथी जाननेवाले चक्षुष्मान् (दृष्टिसम्पन्न) का ज्ञान सम्यक् होता है, वैसे ही समस्त नयो के समुदाय द्वारा वस्तु की समस्त पर्यायो को या उसके धर्मो को जाननेवाले का ज्ञान सम्यक् होता है।

७३३. पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो तु अणभिलप्पाणं ।
पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुदणिबद्धो ॥१२॥
प्रज्ञापनीया भावा, अनन्तभाग तु अनभिलाप्यानाम् ।
प्रज्ञापनीयाना पुन, अनन्तभाग श्रुतनिबद्ध ॥१२॥

७३४. सयं सयं पससंता, गरहंता परं वयं ।
जे उ तत्थ विउस्संति, संसारं ते विउस्सिया ॥१३॥
स्वक स्वक प्रशसन्त, गर्हयन्त, पर वच ।
ये तु तत्र विद्वस्यन्ते, सप्तार ते व्युच्छ्रता ॥१३॥

७३५. णाणाजीवा णाणाकम्मं, णाणाविहं हवे लद्धी ।
तम्हा वयणविवादं, सगपरसमएहिं वज्जिज्जा ॥१४॥
नानाजीवा नानाकर्म नानाविधा भवेल्लब्धि ।
तस्माद् वचनविवाद, स्वपरसमयैर्वर्जयेत् ॥१४॥

७३६. भद्दं मिच्छादंसण-समूहमइयस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ, संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥१५॥
भद्र मिथ्यादर्शनसमूहमयस्य अमृतसारस्य ।
जिनवचनस्य भगवत सविग्नसुखाधिगम्यस्य ॥१५॥

४२. निक्षेपसूत्र

७३७. जुत्तीसुजुत्तमग्गे, जं चउभेएण होइ खलु ठवणं ।
कज्जे सदि णामादिसु, तं णिक्खेवं हवे समए ॥१॥
युक्तिसुयुक्तमार्गे, यत् चतुर्भेदेन भवति खलु स्थापनम् ।
कार्ये सति नामादिषु, स निक्षेपो भवेत् समये ॥१॥

७३८. दव्वं विविहसहावं, जेण सहावेण होइ तं झेयं ।
तस्स निमित्तं कीरइ, एक्कं पि य दव्व चउभेयं ॥२॥
द्रव्य विविधस्वभाव, येन स्वभावेन भवति तद्ध्येयम् ।
तस्य निमित्त क्रियते, एकमपि च द्रव्य चतुर्भेदम् ॥२॥

७३९. णाम ठवणा दव्वं, भावं तह जाण होइ णिक्खेवं ।
दव्वे सण्णा णामं, दुविहं पि य तं पि विक्खायं ॥३॥
नाम स्थापना द्रव्य, भाव तथा जानीहि भवति निक्षेप ।
द्रव्ये सज्ञा नाम, द्विविधमपि च तदपि विख्यातम् ॥३॥

७३३ ससार मे ऐसे वहुत-से पदार्थ है जो अनभिलाप्य है। शब्दो द्वारा उनका वर्णन नही किया जा सकता। ऐसे पदार्थो का अनन्तवां भाग ही प्रज्ञापनीय (कहने योग्य) होता है। इन प्रज्ञापनीय पदार्थो का भी अनन्तवाँ भाग ही शास्त्रो मे निवद्ध है। [ऐसी स्थिति मे कैसे कहा जा सकता है कि अमुक शास्त्र मे लिखी वात या अमुक ज्ञानी की वात ही निरपेक्ष सत्य है।]

७३४ इसलिए जो पुरुष केवल अपने मत की प्रशसा करते है तथा दूसरे के वचनो की निन्दा करते है और इस तरह अपना पाडित्य-प्रदर्शन करते है, वे ससार मे मजवूती से जकडे हुए है---दृढ-रूप मे आवद्ध है।

७३५ इस ससार मे नाना प्रकार के जीव है, नाना प्रकार के कर्म है, नाना प्रकार की लब्धियाँ है, इसलिए कोई स्वधर्मी हो या पर-धर्मी, किसीके भी साथ वचन-विवाद करना उचित नही।

७३६ मिथ्यादर्शनो के समूहरूप, अमृतरस-प्रदायी और अनायास ही मुमुक्षुओ की समझ मे आनेवाले वन्दनीय जिनवचन का कल्याण हो।

४२. निक्षेपसूत्र

७३७ युक्तिपूर्वक, उपयुक्तमार्ग मे प्रयोजनवश नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव मे पदार्थ की स्थापना को आगम मे निक्षेप कहा गया है।

७३८ द्रव्य विविध स्वभाववाला है। उनमे से जिस स्वभाव के द्वारा वह ध्येय या ज्ञेय (ध्यान या ज्ञान) का विपय होता है उस स्वभाव के निमित्त एक ही द्रव्य के ये चार भेद किये गये है।

७३९ और (इसीलिए) निक्षेप चार प्रकार का माना गया है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य की सज्ञा को नाम कहते है। उसके भी दो भेद प्रसिद्ध है।

७४०. सायार इयर ठवणा, कित्तिम इयरा दु बिंबजा पढमा ।
इयरा इयरा भणिया, ठवणा अरिहो य णायव्वो ॥४॥
साकारेतरा स्थापना, कृत्रिमेतरा हि बिम्बजा प्रथमा ।
इतरा इतरा भणिता, स्थापनार्हन् च ज्ञातव्यः ॥४॥

७४१-७४२. दव्वं खु होइ दुविहं, आगम-णोआगमेण जह भणियं ।
अरहंत-सत्थ-जाणो, अणजुत्तो दव्व-अरिहंतो ॥५॥
णोआगमं पि तिविहं, देहं णाणिस्स भाविकम्मं च ।
णाणिसरीरं तिविहं, चुद चत्तं चाविदं चेति ॥६॥
द्रव्यं खलु भवति द्विविधं, आगमनोआगमाभ्याम् यथा भणितम् ।
अर्हत् शास्त्रज्ञायक-अनुपयुक्तो द्रव्यार्हन् ॥५॥
नोआगमम् अपि त्रिविधं, देहो ज्ञानिनो भाविकर्म च ।
ज्ञानिशरीरं त्रिविधं, च्युतं त्यक्तं च्यावितम् च इति ॥६॥

७४३-७४४. आगम-णोआगमदो, तहेव भावो वि होदि दव्वं वा ।
अरहंतसत्थजाणो, आगमभावो हु अरहंतो ॥७॥
तग्गुणए य परिणदो, णोआगमभाव होइ अरहंतो ।
तग्गुणएई झादा, केवलणाणी हु परिणदो भणिओ ॥८॥

७४०. जहाँ एक वस्तु का किसी अन्य वस्तु मे आरोप किया जाता है वहाँ स्थापना निक्षेप होता है । यह दो प्रकार का है—साकार और निराकार । कृत्रिम और अकृत्रिम अर्हन्त की प्रतिमा साकार स्थापना है तथा किसी अन्य पदार्थ मे अर्हन्त की स्थापना करना निराकार स्थापना है ।

७४१-७४२ जब वस्तु की वर्तमान अवस्था का उल्लघन कर उसका भूतकालीन या भावी स्वरूपानुसार व्यवहार किया जाता है, तब उसे द्रव्यनिक्षेप कहते है । उसके दो भेद है—आगम और नोआगम । अर्हन्तकथित शास्त्र का जानकार जिस समय उस शास्त्र मे अपना उपयोग नही लगाता उस समय वह आगम द्रव्यनिक्षेप से अर्हन्त है । नोआगम द्रव्यनिक्षेप के तीन भेद है—ज्ञायकशरीर, भावी और कर्म । जहाँ वस्तु के ज्ञाता के शरीर को उस वस्तुरूप माना जाय वहाँ ज्ञायक शरीर नोआगम द्रव्यनिक्षेप है । जैसे राजनीतिज्ञ के मृत शरीर को देखकर कहना कि राजनीति मर गयी । ज्ञायकशरीर भी भूत, वर्तमान और भविष्य की अपेक्षा तीन प्रकार का तथा भूतज्ञायक शरीर च्युत, त्यक्त और च्यावित रूप से पुन तीन प्रकार का होता है । वस्तु को जो स्वरूप भविष्य मे प्राप्त होगा उसे वर्तमान मे ही वैसा मानना भावी नोआगम द्रव्यनिक्षेप है । जैसे युवराज को राजा मानना तथा किसी व्यक्ति का कर्म जैसा हो अथवा वस्तु के विषय मे लौकिक मान्यता जैसी हो गयी हो उसके अनुसार ग्रहण करना कर्म या तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यनिक्षेप है । जैसे जिस व्यक्ति मे दर्शनविशुद्धि, विनय आदि तीर्थंकर नामकर्म का वन्ध करानेवाले लक्षण दिखायी दे उसे तीर्थंकर ही कहना अथवा पूर्णकलश, दर्पण आदि पदार्थों को लोक-मान्यतानुसार मागलिक कहना ।

आगमनोआगमतस्तथैव भावोऽपि भवति द्रव्यमिव ।
अर्हत् शास्त्रज्ञायक, आगमभावो हि अर्हन् ॥७॥
तद्गुणैश्च परिणतो, नोआगमभावो भवति अर्हन् ।
तद्गुणैध्याता, केवलज्ञानी हि परिणतो भणित ॥८॥

४३. समापन

७४५. एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदंसी अणुत्तरणाणदंसणधरे ।
अरहा नायपुत्ते भगवं, वेसालिए वियाहिए त्ति बेमि ॥१॥
एव स उदाहृतवान्-अनुत्तरज्ञा-न्यनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञानदर्शनधर ।
अर्हन् ज्ञातपुत्रो भगवान्, वैशालिको व्याख्यातवानिति ब्रवीमि ॥

७४६. णहि णूण पुरा अणुस्सुयं, अदुवा तं तह णो समुट्ठियं ।
मुणिणा सामाइ आहियं, नाएणं जगसव्वदंसिणा ॥२॥
नहि नून पुराऽनुश्रुतम-थवा तत्तथा नो समुत्थितम् ।
मुनिना सामायिकाद्याख्यात, ज्ञातेन जगत्सर्वदर्शिना ॥२॥

७४७-७४८. अत्ताण जो जाणइ जो य लोगं, जो आगतिं जाणइ णागतिं च ।
जो सासयं जाण असासयं च, जातिं मरणं च चयणोववातं ॥३॥
अहो वि सत्ताण वि उट्टणं च, जो आसवं जाणति संवरं च ।
दुक्खं च जो जाणइ णिज्जरं च, सो भासिउमरिहति किरियवादं ॥
आत्मान य जानाति यश्च लोक य आगतिं नागतिं च ।
य शाश्वत जानाति अशाश्वत च जातिं मरण च च्यवनोपपातम्।
अध अपि सत्त्वानाम् अपि ऊर्ध्वं य आस्रव जानाति सवर च ।
दुःख च य जानाति निर्जरा च स भाषितुम् अर्हति क्रियावादम् ॥

७४९. लद्धं अलद्धपुव्वं, जिणवयण-सुभासिदं अमिदभूदं ।
गहिदो सुग्गइमग्गो, णाहं मरणस्स बीहेमि ॥५॥
लब्धमलब्धपूर्वं, जिनवचन-सुभाषित अमृतभूतम् ।
गृहीत सुगतिमार्गो, नाहं मरणाद् बिभेमि ॥५॥

●

७४३-७४४ तत्कालवर्ती पर्याय के अनुसार ही वस्तु को सम्बोधित करना या मानना भावनिक्षेप है। इसके भी दो भेद हैं—आगम भावनिक्षेप और नोआगम भावनिक्षेप। जैसे अर्हन्त-शास्त्र का ज्ञायक जिस समय उस ज्ञान में अपना उपयोग लगा रहा है उसी समय अर्हन्त है, यह आगमभावनिक्षेप है। जिस समय उसमें अर्हन्त के समस्त गुण प्रकट हो गये हैं उस समय उसे अर्हन्त कहना तथा उन गुणों से युक्त होकर ध्यान करनेवाले को केवलज्ञानी कहना नोआगमभावनिक्षेप है।

४३. समापन

७४५ इस प्रकार यह हितोपदेश अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तरदर्शी तथा अनुत्तरज्ञानदर्शन के धारी ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने विशाला नगरी में दिया था।

७४६ सर्वदर्शी ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने सामायिक आदि का उपदेश दिया था, किन्तु जीव ने उसे सुना नहीं अथवा सुनकर उसका सम्यक् आचरण नहीं किया।

७४७-७४८. जो आत्मा को जानता है, लोक को जानता है, आगति और अनागति को जानता है, शाश्वत-अशाश्वत, जन्म-मरण, चयन और उपपाद को जानता है, आस्रव और संवर को जानता है, दुःख और निर्जरा को जानता है वही क्रियावाद का अर्थात् सम्यक् आचार-विचार का कथन कर सकता है।

७४९ जो मुझे पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ, वह अमृतमय सुभाषित जिनवचन आज मुझे उपलब्ध हुआ है और तदनुसार सुगति का मार्ग मैंने स्वीकार किया है। अतः अब मुझे मरण का कोई भय नहीं है।

●

४४. वीरस्तवन

७५०. णाणं सरणं मे, दंसणं च सरणं च चरिय सरणं च ।
तव संजमं च सरणं, भगवं सरणो महावीरो ॥१॥
ज्ञान शरण मम, दर्शन च शरण च चारित्र शरण च ।
तप सयमश्च शरण, भगवान् शरणो महावीर ॥१॥

७५१. से सव्वदंसी अभिभूयणाणी, णिरामगंधे धिइमं ठियप्पा ।
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं, गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥२॥
स सर्वदर्शी अभिभूयज्ञानी, निरामगन्धो धृतिमान् स्थितात्मा ।
अनुत्तर सर्वजगति विद्वान्, ग्रन्थादतीत अभयोऽनायु ॥२॥

७५२. से भूइपण्णे अणिएयचारी, ओहंतरे धीरे अणंतचक्खू ।
अणुत्तरे तवति सूरिए व, वइरोयणिंदेव तमं पगासे ॥३॥
स भूतिप्रज्ञोऽनिकेतचारी, ओघन्तरो धीरोऽनन्तचक्षु ।
अनुत्तर तपति सूर्य इव, वैरोचनेन्द्र इव तम प्रकाशयति ॥३॥

७५३. हत्थीसु एरावणमाहु णाए, सीहो मिगाणं सलिलाण गंगा ।
पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवो, निव्वाणवादीणिह नायपुत्ते ॥४॥
हस्तिष्वैरावणमाहु ज्ञात, सिंहो मृगाणा सलिलाना गङ्गा ।
पक्षिषु वा गरुडो वैनतेय निर्वाणवादिनामिह ज्ञातपुत्र ॥४॥

७५४. दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं, सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति ।
तवेसु वा उत्तम बंभचेरं, लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ॥५॥
दानाना श्रेष्ठमभयप्रदानं, सत्येषु वा अनवद्य वदन्ति ।
तपस्सु वा उत्तम ब्रह्मचर्य, लोकोत्तम श्रमणो ज्ञातपुत्र ॥५॥

७५५. जयइ जगजीवजोणी-वियाणओ जगगुरू जगाणंदो ।
जगणाहो जगबंधू, जयइ जगप्पियामहो भयवं ॥६॥
जयति जगज्जीवयोनि - विज्ञायको जगद्गुरुर्जगदानन्द ।
जगन्नाथो जगद्बन्धु-र्जयति जगन्पितामहो भगवान् ॥६॥

७५६. जयइ सुयाणं पभवो, तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ ।
जयइ गुरू लोगाणं, जयइ महप्पा महावीरो ॥७॥
जयति श्रुताना प्रभव, तीर्थकराणामपश्चिमो जयति ।
जयति गुरुर्लोकाना, जयति महात्मा महावीर ॥७॥

वीरस्तवन

७५० ज्ञान मेरा शरण है, दर्शन मेरा शरण है, चारित्र मेरा शरण है, तप और सयम मेरा शरण है तथा भगवान् महावीर मेरे शरण है ।

७५१ वे भगवान् महावीर सर्वदर्शी, केवलज्ञानी, मूल और उत्तर-गुणो सहित विशुद्ध चारित्र का पालन करनेवाले, धैर्यवान् और ग्रन्थातीत अर्थात् अपरिग्रही थे । अभय थे और आयुकर्म से रहित थे ।

७५२ वे वीरप्रभु अनन्तज्ञानी, अनियताचारी थे । ससार-सागर को पार करनेवाले थे । धीर और अनन्तदर्शी थे । सूर्य की भाँति अतिशय तेजस्वी थे । जैसे जाज्वल्यमान अग्नि अन्धकार को नष्ट कर प्रकाश फैलाती है, वैसे ही उन्होने भी अज्ञानाधकार का निवारण करके पदार्थो के सत्यस्वरूप को प्रकाशित किया था ।

७५३ जैसे हाथियो मे ऐरावत, मृगो मे सिह, नदियो मे गगा, पक्षियो मे वेणुदेव (गरुड) श्रेष्ठ है, उसी तरह निर्वाणवादियो मे ज्ञानपुत्र (महावीर) श्रेष्ठ थे ।

७५४ जैसे दानो मे अभयदान श्रेष्ठ है, सत्यवचनो मे अनवद्य वचन (पर-पीडाजनक नही) श्रेष्ठ है । जैसे सभी सत्यतपो मे ब्रह्मचर्य उत्तम है, वैसे ही ज्ञातपुत्र श्रमण लोक मे उत्तम थे ।

७५५ जगत् के जीवो की योनि अर्थात् उत्पत्तिस्थान को जाननेवाले, जगत् के गुरु, जगत् के आनन्ददाता, जगत् के नाथ, जगत् के बन्धु, जगत् के पितामह भगवान् जयवन्त हो ।

७५६ द्वादशागरूप श्रुतज्ञान के उत्पत्तिस्थान जयवन्त हो, तीर्थंकरो में अन्तिम जयवन्त हो । लोको के गुरु जयवन्त हो । महात्मा महावीर जयवन्त हो ।

गाथानुक्रमणिका

पारिभाषिक शब्दकोश

[अंक गाथाओं के द्योतक हैं। जिन अंकों के साथ सूत्र लिखा है, वे अंक प्रकरण के द्योतक हैं।]

अंग—सम्यग्दर्शन के आठ गुण (सूत्र १८)

अगार—वेश्म या घर (२९८)

अज्ञान—मोहयुक्त मिथ्याज्ञान (२८९)

अज्ञानी—मिथ्यादृष्टि (१९५)

अजीव—सुख दुःख तथा हिताहित के ज्ञान से (५९३) और चेतना से रहित पुद्गल आदि पांच द्रव्य (६२४)

अणुव्रत—श्रावकों के पांच व्रत। (सूत्र ३००)

अतिथिसंविभागव्रत—साधु को चार प्रकार का दान देना (३३०-३३१)

अतीन्द्रिय सुख—आत्म-ज्ञान निराकुल आनन्दानुभूति (६१४-६१५)

अदत्तादान-व्रत—अचौर्यव्रत। (३१३)

अधर्मद्रव्य—जीव तथा पुद्गल की स्थिति में, पृथिवी की भांति सहायक, लोकाकाश प्रमाण एक अमूर्त द्रव्य (६२५, ६२९, ६३४)

अध्यवसान—पदार्थ-निश्चय (५४५)

अध्यवसाय—कर्म-बन्ध का कारण, जीव की राग-बुद्धि (१५४, ३९२)

अध्यात्म—शुद्धात्मा में विशुद्धता का आधार-भूत अनुष्ठान (१२७)

अनगार—गृहत्यागी साधु (३३६)

अनभिगृहीत मिथ्यात्व—दूसरे के उपदेश आदि से निरपेक्ष जन्म-जात तात्त्विक अश्रद्धान (५४९)

अनर्थदण्डव्रत—प्रयोजनविहीन कार्यों का त्याग (३२१-३२२)

अनशन—कर्मों की निर्जरार्थ यथाशक्ति एक-दो दिन आदि के लिए आहार-त्याग-रूप तप (४४२-४४७)

अनित्य-अनुप्रेक्षा—वैराग्य-वृद्धि के लिए जगत् की क्षणभंगुरता का बारम्बार चिन्तन (५०७-५०८)

अनिवृत्तिकरण—साधक की नवम भूमि, जिसमें समान समयवर्ती सभी साधकों के परिणाम समान हो जाते हैं, और प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धता को प्राप्त होते रहते हैं (५५८)

अनुप्रेक्षा—वैराग्य-वृद्धि के लिए बार-बार चिन्तवन की जानेवाली १२ भावनाएँ (सूत्र ३०)

अनेकान्त—वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता का या वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता का निदर्शक तत्त्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि परस्पर-विरोधी अनेक धर्म-युगलों से युक्त वस्तु का अविभाज्य एकरसात्मक जात्यन्तर स्वरूप (६६९-६७२)

अन्तरात्मा–देहादि से भिन्न आत्मस्वरूप को समझनेवाला सम्यग्दृष्टि (१७६)

अन्तराय-कर्म–दान लाभ आदि मे बाधक कर्म (६६)

अन्यत्व-अनुप्रेक्षा–अपने स्वरूप को देहादि मे भिन्न देखने की भावना (५१८–५२०)

अपध्यान–राग-द्वेपवश दूसरो का अनिष्ट चिन्तन (३२१)

अपरभाव–वस्तु का शुद्ध स्वभाव या तत्त्व (५६०)

अपरमभाव–अपरभाववत् (५६०)

अपवाद–शक्ति की हीनतावश वीतराग-मार्गियो को भी आहार आदि के ग्रहण की आज्ञा (४४)

अपूर्वकरण–साधक की अष्टम भूमि, जिसमे प्रविष्ट होने पर जीवो के परिणाम प्रति समय अपूर्व-अपूर्व ही होते हैं (५५६-५५७)

अप्रदेश–जिसका अन्य कोई प्रदेश नही होता ऐसा एकप्रदेशी परमाणु (६५२)

अप्रमत्त–रागद्वेषरहित, यतनाचारी और आत्मा के प्रति सदा जागृत (१६६–१६६)

अप्रमत्तसंयत–साधक की सप्तम भूमि, जहाँ किसी प्रकार का भी प्रमाद व्यक्त नही होता (५५५)

अप्रमाद–राग-द्वेपविहीन आत्मजागृति (सूत्र १३)

अभयदान–मरण आदि के भय से ग्रस्त जीवो की रक्षा करना (३३५)

अभिगृहीत मिथ्यात्व–दूसरो के उपदेश आदि से असत्य धर्म तथा तत्त्वो के प्रति उत्पन्न श्रद्धा और सत्य के प्रति अश्रद्धा (५४६)

अभ्यन्तर ग्रन्थ–मिथ्यादर्शन तथा कषाय आदि १४ भाव (१४३)

अभ्यन्तर तप–प्रायश्चित्त, विनय आदि के रूप मे छह प्रकार का आन्तरिक तप (४५६)

अभ्यन्तर संलेखना–कषायो की कृशता (५७४)

अमूढदृष्टि–तत्त्वो के प्रति अभ्रान्तदृष्टि (२३७)

अमूर्त–इन्द्रिय-प्रत्यक्ष न होने के कारण (५६५) जीव आदि पाँच द्रव्य (६२६)

अयोगी-केवली–साधक की चौदहवी अथवा अन्तिम भूमि जिसमे मन वचन काय की समस्त चेष्टाएँ शान्त होकर शैलेशी स्थिति प्राप्त जीव (५६४)

अरहंत या अर्हन्त–प्रथम परमेष्ठी (१), जीवन्मुक्त सर्वज्ञ (७), जो पुन देह धारण नही करते (१८०)

अर्थ–ज्ञान के विषय द्रव्य गुण व पर्याय (३२)

अरूपी–दे० अमूर्त (५६२)

अलोक–'लोक' के बाहर स्थित केवल असीम आकाश (६३६)

अवधिज्ञान–मर्यादित देश-काल की अपेक्षा अन्तरित कुछ द्रव्यो को तथा उनके कुछ सूक्ष्म भावो तक को एक सीमा तक प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान-विशेप (६८१, ६८६)

अवमौदर्य–आहार की मात्रा मे क्रमश कमी करते हुए एक चावल तक पहुँचना (४४८)

अविरत सम्यग्दृष्टि–साधक की चतुर्थ भूमि, जिसमे सम्यग्दर्शन हो जाने पर भी भोगो अथवा हिंसा आदिक पापो के प्रति विरत्ति भाव जागृत नही हो पाया (५५२)

अविरति–हिंसा आदि पाँच पापो मे विरक्ति का अभाव (६०८)

अशरण-अनुप्रेक्षा–वैराग्य-वृद्धि के लिए धन-कुटुम्बादि की अशरणता का चिन्तवन तथा धर्म की शरण में जाने की भावना (५०९-५१०)

अशुचि-अनुप्रेक्षा–वैराग्य-वृद्धि के लिए देह की अशुचिता का बार-बार चिन्तवन (५२१)

अशुभ-भाव–तीव्र कषाय (५९८)

अशुभ-लेश्या–कृष्ण आदि तीव्र कषाययुक्त तीन वृत्तियाँ (५३४)

अष्ट–१ कर्म, २ सिद्धो के गुण, ३ प्रवचन-माता तथा ४ मद ये सब आठ-आठ हैं।

असख्यप्रदेश–आकाश अनन्त है जिसके मध्य लोक-भाग केवल असख्यातप्रदेश प्रमाण है। धर्म तथा अधर्म द्रव्य भी इतने ही परिमाणवाले हैं। जीवद्रव्य भी परमार्थत इतना ही बडा है, परन्तु देह मे सकुचित होने से यह परिमाण अव्यक्त है। उसकी केवल–समुद्घात अवस्था ही ऐसी है कि एक क्षण के लिए वह फैलकर लोक-प्रमाण हो जाता है (६४९)

अस्तिकाय–जीव आदि छहो द्रव्य अस्तित्व-युक्त है, परन्तु प्रदेश प्रचय युक्त होने से कायवान् केवल पाँच हैं। परमाणुवत् समय मात्र एकप्रदेशी होने के कारण कालद्रव्य कायवान् नही है (६२९, ६३१)

अस्तेय–बिना दिये कोई वस्तु ग्रहण न करने का भाव या व्रत (३१३, ३७०-३७१)

अहकार–देह मे 'मैं'-पन का भाव (३४९)

अहिंसा–प्राणि-वध न करना व्यवहार अहिंसा है (१४८) और राग-द्वेष न होना (१५१) अथवा यतनाचार-अप्रमाद (१५७) निश्चय अहिंसा है।

आकाश–सर्व द्रव्यो को अवकाश देनेवाला सर्वगत अमूर्त द्रव्य, जो लोक और अलोक दो भागो में विभक्त है (६२५–६२९, ६३५)

आकिंचन्य–निःसगता या अकिंचनवृत्ति–नितान्त अपरिग्रहवृत्ति। दस धर्मों मे से नौवाँ (१०५–११०)

आगम–पूर्वापर-विरोध-रहित जैनग्रन्थ, वीतरागवाणी (२०)

आगम-निक्षेप–विचारणीय पदार्थ विषयक शास्त्र का ज्ञाता पुरुष भी कदाचित् उसी नाम से जाना जाता है, जैसे मशीनरी का ज्ञाता मैकेनिक (७४१–७४४)

आचार्य–स्वमत तथा परमत के ज्ञाता सघनायक साधु (९, १७९)

आत्मा–व्यक्ति का निजत्व (१२१–१२८) अथवा उसका ज्ञान-दर्शन-प्रधान चेतन तथा अमूर्त अन्तस्तत्त्व (१८५) (सूत्र १५)

आदान-निक्षेपण समिति–वस्तुओं को उठाने-धरने मे विवेक–यतनाचार (४१०)

आधाकर्म–चक्की, चूल्हा आदि के अधिक आरम्भ द्वारा तैयार किया गया हिंसा-युक्त भोजन (४०९)

आभिनिबोधिक-ज्ञान–इन्द्रियाभिमुख विषयो का ग्रहण। मतिज्ञान का दूसरा नाम (६७७)

आयुकर्म–आत्मा को शरीर मे रोक रखने-वाला कर्म (६६)

आरम्भ–प्राणियो को दुख पहुँचानेवाली हिंसायुक्त प्रवृत्ति (४१२–४१४)

आर्जव–निश्छलता तथा सरलता (६१)

आर्त्तध्यान–इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग तथा वेदना आदि के कारण उत्पन्न होनेवाला दुख व खेदयुक्त मन स्थिति (३२८)

आलोचना–सरलभाव से अपने दोषो का आत्मनिन्दनपूर्वक प्रकटीकरण (४६१–४६५)

आवश्यक–साधु के द्वारा नित्य करणीय प्रतिक्रमण आदि छ कर्त्तव्य (६१८–६२०, ६२४)

आसन–ध्यान तथा तप आदि के लिए साधु के बैठने अथवा खडे होने की विधि। पल्यकासन (४८६) वीरासन (४५२) आदि के भेद से अनेक प्रकार के।

आस्रव–मन वचन काय की प्रवृत्ति के द्वारा शुभाशुभ कर्मो का आगमन (६०१–६०४)

आस्रव-अनुप्रेक्षा–वैराग्य-वृद्धि के लिए मोह-जन्य भावो को तथा मन वचन काय की प्रवृत्तियो की हेयता का चिन्तवन (५२२)

आस्रवद्वार–कर्मागमन के मूल कारण–मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योग (६०५)

इन्द्रिय–ज्ञान के पाँच करण–स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र तथा श्रोत्र (४७)

इहलोक–मनुष्य या तिर्यक् जगत् (१२७)

ईर्या-समिति–गमनागमन विषयक यतनाचार (३९६)

उच्चार-समिति–दे० प्रतिष्ठापना समिति

उत्तमार्थकाल–सलेखनायुक्त मरणकाल (५७८)

उत्पाद–द्रव्य की नित्य नवीन पर्यायो की उत्पत्ति (६६६–६६७)

उत्पादन-दोष–गृहस्थो को उनके इच्छानुसार विद्या, सिद्धि या चिकित्सा आदि का उपाय बताने से प्राप्त होनेवाली सदोष भिक्षा (४०५)

उत्सर्ग–ज्ञानादि कार्य की सफलता का सर्वथा निर्दोष अति कर्कशमार्ग जिसमे साधु किसी भी प्रकार का परिग्रह ग्रहण नही करता (४४)

उद्गम-दोष–अपने निमित्त से तैयार किया गया भोजन या भिक्षा ग्रहण करना सदोष (४०५)

उदुम्बर–ऊमर, वड, पीपल, गूलर तथा पाकर ये अग्राह्य पाँच फल जिनमे छोटे-छोटे जीवो की बहुलता होती है (३०२)

उपगूहन–सम्यग्दर्शन का एक अग, अपने गुणो को तथा दूसरो के दोषो को प्रकट न करना (२३९)

उपधि–शक्ति की हीनतावश निर्ग्रन्थ साधु के द्वारा ग्रहण किये जानेवाले आहार आदि कुछ निर्दोष तथा शास्त्रसम्मत पदार्थ (३७७–३७८)

उपभोग–पुन पुन भोगे जाने योग्य वस्त्रा-लकार आदि पदार्थ या विषय (३२३)

उपयोग–आत्मा का चैतन्यानुविधायी ज्ञान-दर्शन युक्त परिणाम (६४९)

उपबृंहण–धार्मिक भावनाओ के द्वारा आत्मिक शक्तियो की अभिवृद्धि (२३८)

उपशम–क्षमाभाव (१३६)

उपशमक–कषायो का उपशमन करनेवाला साधक (५५५)

उपशमन–ध्यान-चिन्तन आदि के द्वारा कषायो को प्रशान्त करना (५५७)

उपशान्त-कषाय—साधक की ग्यारहवीं भूमि जिसमें कषायों का पूर्ण उपशमन हो जाने से वह कुछ काल के लिए अत्यन्त शान्त हो जाता है (५६०)

उपशान्त-मोह—उपशान्त-कषाय गुणस्थान का दूसरा नाम।

उपाध्याय—चतुर्थ परमेष्ठी (१), आगम-ज्ञाता साधु (१०)

ऊनोदरी—दे० अवमौदर्य

ऋजुसूत्र-नय—भूत-भविष्यत् से निरपेक्ष केवल वर्तमान पर्याय को पूर्ण द्रव्य स्वीकार करनेवाली क्षणभंगवादी दृष्टि (७०६-७०७)

ऋषि—ऋद्धि-सिद्धि-सम्पन्न साधु (३३६)

एकत्व-अनुप्रेक्षा—वैराग्य-वृद्धि के लिए अपने कर्मों का फल भोगने में सर्व जीवों की असहायता का चिन्तवन (५१५)

एकेन्द्रिय—केवल स्पर्शन इन्द्रियधारी पृथिवी, जल, वायु, अग्नि व वनस्पति आदि जीव (६५०)

एवंभूत-नय—जिस शब्द का जिस क्रियावाला व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ होता है, उसके द्वारा उस क्रियारूप परिणमित पदार्थ को ही समझना। जैसे गमनार्थक 'गो' शब्द के द्वारा चलती हुई गाय का ही ग्रहण करना, न कि बैठी हुई का (७१२-–७१३)

एषणा-समिति—भिक्षाचर्या विषयक विवेक-यतनाचार (४०४–४०६)

करण—प्रवृत्ति के साधन वचन व काय (६०१) अथवा इन्द्रियाँ।

कर्म—मन वचन काय की शुभ या अशुभ प्रवृत्ति या व्यापार (६०१)। उसके निमित्त से बन्ध को प्राप्त होनेवाला कर्मजातीय सूक्ष्म पुद्गलस्कन्धरूप द्रव्य कर्म जो ज्ञानावरण आदि आठ भेद रूप है। कर्म के फलोदय वश होनेवाले रागादि परिणाम भाव-कर्म हैं (सूत्र ६)

कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभरूपी आत्मघातक विकार (१३५-१३६)

कापोत-लेश्या—तीन अशुभ लेश्याओं में से तृतीय या जघन्य (५३४, ५४१)

कामभोग—इन्द्रियों द्वारा भोग्य विषय (४६)

काय—अनेक प्रदेशों का प्रचय या समूह जिससे युक्त द्रव्य कायवान् हैं (६५६)। जीव के पृथिवी आदि पाँच स्थावर तथा एक त्रस ऐसे छः जाति के शरीर काय कहलाते हैं (६५०)

कायक्लेश—ग्रीष्म-ऋतु में गिरि-शिखर पर उत्कट आसन लगाकर आतापन योग धारण करना, और इसी प्रकार शरद-ऋतु में शीतयोग और वर्षाऋतु में वर्षा-योग धारण करना, एक तप (४५२)

कायगुप्ति—काय-प्रवृत्ति का गोपन, संकोचन (४१४)

कायोत्सर्ग—कुछ काल के लिए शरीर को काष्ठवत् समझ धैर्यपूर्वक उपसर्ग सहन करने के रूप में किया जानेवाला आभ्यन्तर तप (४३४-४३५, ४८०)

काल—समयप्रमाण एकप्रदेशी अमूर्त तथा निष्क्रिय द्रव्य, जो समस्त द्रव्यों के परि-णमन में सामान्य हेतु है (६२५–६२६, ६३७–६३६)

कुल—जीवों की १६६½ लाख करोड़ जातियाँ (३६७)

कूटशाल्मली—नरकों के अति पीडादायक कँटीले वृक्ष (१२२)

कृष्ण-लेश्या–तीन अशुभ लेश्याओ मे से प्रथम या तीव्रतम (५३४, ५३६)

केवलज्ञान–इन्द्रिय आदि से निरपेक्ष तथा सर्वग्राही आत्मज्ञान (६८४, ६८६)

केवलदर्शन–केवलज्ञानवत् सर्वग्राही दर्शन (६२०)

केवललब्धि–केवलज्ञान की भाँति अर्हन्तो तथा सिद्धो की नव लब्धियाँ–अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसम्यक्त्व, अनन्त-चारित्र या सुख। तथा अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य (५६२)

केवलवीर्य–केवलज्ञानवत् जानने-देखने आदि की अनन्तशक्ति (६२०)

केवलसुख–केवलज्ञानवत् इन्द्रियादि से निर-पेक्ष अनन्तसुख या निराकुल आनन्द (६२०)

केवली–केवलज्ञान-दर्शन आदि शक्तियो से सम्पन्न अर्हन्त परमेष्ठी (५६२-५६३)

क्षपक–कषायो का क्षपण करनेवाला साधक (५५५)

क्षपण–ध्यान आदि के द्वारा कषायो को समूल नष्ट कर देना, जिससे वे पुन न उभरें (५५७)

क्षमा–दस धर्मों मे से एक (८५, १३५)

क्षीणकषाय–साधक की १२वी भूमि, जिसमे कषायो का समूल नाश हो जाता है। (५६१)

क्षीणमोह–क्षीणकषाय गुणस्थान का दूसरा नाम।

खेचर–विद्या के बल से आकाश मे विचरण करने मे समर्थ मनुष्यो की एक जाति-विशेष, विद्याधर (२०४)

खरकर्म–कोयला बनाना, पशुओ के द्वारा बोझ ढुलाई इत्यादि, ऐसे व्यापार जो प्राणियो को पीड़ा पहुँचे बिना हो नहीं सकते। (३२५)

गच्छ–तीन से अधिक पुरुषो या साधुओं का समूह (२६)

गण–तीन पुरुषो या साधुओ का समूह अथवा स्थविर साधुओ की परम्परा (२६)

गणधर–तीर्थंकर के साधु-गण के नायक, जो अर्हन्तोपदिष्ट ज्ञान को शब्दबद्ध करते हैं (१६)

गति–भव से भवान्तर की प्राप्तिरूप चार गतियाँ–नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देव (५२)

गर्हण–रागादि का त्याग कर गुरु के समक्ष कृत दोषो को प्रकट करना (४३०)

गुण–द्रव्य के सम्पूर्ण प्रदेशो मे तथा उसकी समस्त पर्यायो मे व्याप्त धर्म। जैसे मनुष्य मे ज्ञान तथा आम्रफल मे रस (६६१)

गुणव्रत–श्रावक के पाँच अणुव्रतो मे वृद्धि करनेवाले दिक्, देश तथा अनर्थदण्ड नामक तीन व्रत (३१८)

गुणस्थान–कर्मों के उदयादि के कारण होने-वाली साधक की उत्तरोत्तर उन्नत १४ भूमिकाएँ (५४६–५४८) (विशेष दे० सूत्र ३२)

गुप्ति–समितियो मे सहायक मानसिक वाचनिक तथा कायिक प्रवत्तियो का गोपन (३८४, ३८६) (विशेष दे० सूत्र २६-इ)

गुरु–सम्यक्त्वादि गुणो के द्वारा महान होने के कारण अर्हन्त सिद्ध आदि पच परमेष्ठी (६)

गृहीत-मिथ्यात्व—(दे० अभिगृहीत मिथ्यात्व)

गोत्रकर्म—जिस कर्म के कारण जीव उच्च तथा नीच कुल मे जन्म लेता है (६६)

गौरव—वचन, कला, ऋद्धि तथा समृद्धि के कारण व्यक्ति मे उत्पन्न होनेवाला अभिमान (३४८)

ज्ञानावरण—जीव के ज्ञान गुण को आवृत या मन्द करनेवाला कर्म (६६)

ग्रन्थ—२४ प्रकार का परिग्रह (१४३)

घातीकर्म—जीव के ज्ञानादि अनुजीवी गुणो का घात करनेवाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक चार कर्म (७)

चतु—१. अर्थ-नय, २ कषाय, ३ गति, ४ निक्षेप, ५. पर्यायार्थिकनय, ६ शिक्षाव्रत सब चार-चार होते हैं।

चतुरिन्द्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा नेत्र इन चार इन्द्रियोवाले भ्रमर आदि जीव (६५०)

चतुर्दश—१ आभ्यन्तर परिग्रह, २ गुणस्थान, ३ जीवस्थान ४. मार्गणास्थान ये सब १४-१४ होते है।

चारित्र—मन वचन काय की प्रवृत्ति मे निमित्तरूप गुण-विशेष (३६)

चेतना—जीव मे ज्ञान-दर्शन की तथा कर्तृत्व-भोक्तृत्व की निमित्तभूत मूलशक्ति (१८५)

च्यावित-शरीर—आत्म-हत्या द्वारा छूटनेवाला शरीर (७४२)

च्युत-शरीर—आयु पूर्ण हो जाने पर स्वत छूटनेवाला शरीर (७४२)

छद्मस्थ—अल्पज्ञ (४६७)

जिन—इन्द्रिय-जयी तथा कषाय-जयी वीतरागी अर्हन्त भगवान (१३)

जीव—चार शारीरिक प्राणो से अथवा चैतन्य प्राण से जीने के कारण आत्मतत्त्व ही जीव है (६४५), यह उपयोग लक्षण-वाला (६४६) क्रियावान् अमूर्त द्रव्य है, तथा गणना मे अनन्त है (६२५-६२८) ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत होते हुए भी (६४८) प्रदेशो की अपेक्षा लोकाकाश-प्रमाण है जो अपनी सकोच-विस्तार की शक्ति के कारण देहप्रमाण रहता है। (६४६-६४७)

जीवस्थान—जीवो के त्रस, स्थावर, सूक्ष्म, बादर आदि १४ भेद (१८२, ३६७)

जुगुप्सा—अपने दोषो को तथा दूसरो के गुणो को छिपाना, अथवा दूसरो के प्रति ग्लानि का भाव (२३६)

तत्त्व—द्रव्य का अन्य-निरपेक्ष निज-स्वभाव या सर्वस्व (५६०)

तप—विषय-कषायो के निग्रह अथवा इच्छाओ के निरोध के लिए बाह्य तथा आभ्यन्तर रूप से की जानेवाली क्रियाएँ (१०२, ४३६)

तीर्थ—ससार-सागर को पार करने के लिए तीर्थंकरप्ररूपित रत्नत्रय-धर्म तथा तद्युक्त जीव (५१४)

तेजोलेश्या—तीन शुभ लेश्याओ मे से जघन्य या शुभ (५३४, ५४२)

त्यक्त-शरीर—सलेखना-विधि से छोडा गया शरीर (७४२)

त्रस—रक्षार्थ या आहार आदि की खोज मे स्वय चलने-फिरने मे समर्थ द्वीन्द्रियादि सभी जीव (६५०)

त्रि—१ गुणव्रत, २. गुप्ति, ३ गौरव, ४ दण्ड, ५ द्रव्यार्थिक-नय, ६ निर्वेद,

धर्म का ही रक्षकरूप में चिन्तवन (५२५)

धर्म-द्रव्य—जीव तथा पुद्गलों की गति में सहायक हेतु, लोकाकाश प्रमाण निष्क्रिय अमूर्त्त द्रव्य (६२५-६३३)

धर्म-ध्यान—आत्मा के अथवा अर्हन्त सिद्ध आदि के स्वरूप का एकाग्र चिन्तवन तथा मंत्र जाप्य आदि (५०५)

ध्यान—आत्म-चिन्तवन आदि में चित्त की एकाग्रता (४८५, सूत्र २६)

ध्रौव्य—द्रव्य का नित्य अवस्थित सामान्य भाव, जैसे बाल-युवा आदि अवस्थाओं में मनुष्यत्व (६६२-६६७)

नय—वक्ता ज्ञानी का हृदयगत अभिप्राय (३३), सकलार्थग्राही प्रमाणस्वरूप श्रुतज्ञान का विकलार्थग्राही एक विकल्प, अथवा वस्तु के किसी एक अंश का ग्राहक ज्ञान (६९०)

नव—केवललब्धि तथा तत्त्वार्थ नौ-नौ हैं।

नाम-कर्म—जीव के लिए चारों गतियों में विविध प्रकार के शरीरों की रचना करनेवाला कर्म (६६)

नाम-निक्षेप—अपनी इच्छा से किसी वस्तु का कुछ भी नाम रखना (७३६)

निःकांक्षा—वस्तु की तथा ख्याति-लाभ-पूजा की इच्छा से रहित निष्काम भाव, सम्यग्दर्शन का एक अंग (२३३-२३५)

निःशंका—किसी भी प्रकार के भय या आशंका से रहित भाव, सम्यग्दर्शन का एक अंग (२३२)

निःसंग—सभी बाह्य पदार्थों से तथा उनकी आकांक्षा से रहित निर्ग्रन्थ साधु (३४६)

निक्षेप—नाम अथवा स्थापना, द्रव्य और भाव द्वारा किसी पदार्थ को युक्तिपूर्वक जानने तथा जतलाने का माध्यम (२३, ७३७)

निदान—मरने के पश्चात् पर-भव में सुखादि प्राप्त करने की अभिलाषा (३६६)

निमित्तज्ञान—तिल, मसा आदि देखकर भविष्य बतानेवाली विद्या अथवा ज्योतिष (२४४)

निर्ग्रन्थ—ग्रन्थ और ग्रन्थिरहित अपरिग्रही, देखो निःसंग।

निर्जरा—सात तत्त्वों में से एक, जिसके दो भेद हैं, दुःख-सुख तथा जन्म-मरण आदि द्वन्द्वों से अतीत, जीव की केवल ज्ञानानन्दरूप अवस्था (६१७-६१९) अर्थात् मोक्ष (१६२, २११)

निर्विचिकित्सा—जुगुप्सा का अभाव, सम्यग्दर्शन का एक अंग (२३६)

निर्वेद—संसार, देह व भोग तीनों से वैराग्य (२२)

निश्चयनय—अनन्त धर्मात्मक वस्तु के अखण्ड तथा वास्तविक स्वरूप को दर्शानेवाला वह ज्ञान जो न गुण-गुणी रूप भेदोपचार करके व्याख्या करता है और न ही बाह्य निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धरूप कोई अभेदोपचार स्वीकार करता है (३५)। जैसे कि मोक्षमार्ग को सम्यग्दर्शन आदि रूप से त्रयात्मक न कहकर सर्व पक्षों से अतीत निर्विकल्प कहना (२१४), अथवा जीव-वध को हिंसा न कहकर रागादि भाव को ही हिंसा कहना (१५३)

नील-लेश्या—तीन अशुभ लेश्याओं में से द्वितीय या तीव्रतर (५३४, ५४०)

नैगम-नय—सकल्प मात्र के आधार पर गत पदार्थ को अथवा अनिष्पन्न या अर्ध-निष्पन्न पदार्थ को वर्तमान में अवस्थित या निष्पन्न कहना (७००–७०३) (विशेष दे० भूत वर्तमान व भावि नैगम नय)

नैमित्तिक—निमित्तज्ञानी (२४४)

नोआगम-निक्षेप—किसी पदार्थ के ज्ञाता व्यक्ति के कर्म व शरीर को वह पदार्थ कह देना, जैसे मैकेनिक के मृत शरीर को 'यह मैकेनिक था' ऐसा कहना (१४१, ७४४)

नोकर्म—देह को आदि लेकर जितने कुछ भी दृष्ट पदार्थ हैं अथवा उनके कारण-भूत सूक्ष्म स्कन्ध हैं वे सब कर्म निमित्तक होने से नोकर्म कहलाते हैं।

नो-इन्द्रिय—किंचित् इन्द्रिय होने के कारण मन का नाम।

पंच—१ अजीव, २ अणुव्रत, ३ इन्द्रिय, ४ उदुम्बर फल, ५ गुरु, ६ ज्ञान, ७ महाव्रत, ८ समिति, ९ स्थावर जीव पाँच-पाँच हैं।

पंचेन्द्रिय—स्पर्शनादि पांचो इन्द्रियोंवाले मनुष्यादि जीव (६५०)

पण्डित—अप्रमत्त ज्ञानी (१६४-१६५)

पण्डितमरण—अप्रमत्त ज्ञानियो का सल्लेखनायुक्त मरण (५७०-५७१)

पदस्थ ध्यान—विविध मन्त्रो की जाप करने मे मन का एकाग्र होना (४९७)

पद्म-लेश्या—तीन शुभ लेश्याओं मे से द्वितीय या शुभतर (५३४, ५४३)

पर-द्रव्य—आत्मा के अतिरिक्त देह आदि सहित सर्व पदार्थ (५८७)

पर-भाव—आत्मा के शुद्ध स्वभाव के अतिरिक्त उसके रागादि सर्व विकारी भाव तथा अन्य सर्व पदार्थों के रूप रस आदि भाव (१८८–१९१), तत्त्व या वस्तु का शुद्ध स्वभाव (५९०)

परमभाव—तत्त्व या वस्तु का शुद्ध स्वभाव (५९०)

परमाणु—सर्व स्कन्धो का मूल कारण, केवल एकप्रदेशी, अविभाज्य, सूक्ष्म, पुद्गल द्रव्य (६४३, ६५२)

परमात्मा—अष्ट कर्म से रहित तथा आत्मा के शुद्ध स्वरूप मे अवस्थित अर्हन्त तथा सिद्ध (१७८ १७९)

परमार्थ—तत्त्व या वस्तु का शुद्ध स्वभाव (५९०)

परमेष्ठी—मुमक्षु के लिए परम इष्ट तथा मगलस्वरूप अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु (१-२)

परलोक—मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होनेवाला अन्य भव (१२७)

परसमय—आत्म-स्वभाव के अतिरिक्त अन्य पदार्थों मे अथवा अन्य भावो मे इष्टा-निष्ट की कल्पना करनेवाला मिथ्यादृष्टि (१९४-१९५), अन्य मत (२३, ७३५), पक्षपात (७२६–७२८)

परिग्रह—देह आदि सहित आत्मातिरिक्त जितने भी पर-पदार्थ या पर-भाव हैं उनका ग्रहण या सचय व्यवहार-परिग्रह है, और उन पदार्थों मे इच्छा तथा ममत्व भाव का ग्रहण निश्चय-परिग्रह है (सूत्र ११), (३७९)

परिभोग—दे० उपभोग

परीषह—मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए भूख-प्यास आदि सहन करना (५०३)

परोक्षज्ञान—इन्द्रिय व मन की सहायता से होनेवाला मति और श्रुतज्ञान (६८७)

पर्यंकासन—दोनों जंघाओं को मिलाकर ऊपर नीचे रखना (८८६)

पर्याय—वस्तु की उत्पन्न-ध्वंसी परिणमनशील अवस्थाएँ, अथवा गुणों का विकार। जैसे मनुष्य की बाल युवा आदि अवस्थाएँ अथवा रस गुण के खट्टे-मीठे आदि विकार (६६१–६६७)

पर्यायार्थिक नय—त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि से ओझल करके उसकी वर्तमान समयवर्ती किसी एक पर्याय को ही स्वतन्त्र सत्ताधारी पदार्थ के रूप में देखना (६६८–६६७), ऋजुसूत्रादि के भेद से चार प्रकार की (६६६)

पिण्डस्थ-ध्यान—अर्हन्त व सिद्ध का अथवा देहाकार आत्मा का ध्यान (८६७)

पीत-लेश्या—दे० तेजोलेश्या

पुद्गल—परमाणु और स्कन्धरूप सक्रिय तथा मूर्त्त भौतिक द्रव्य जो नित्य पूरण गलन स्वभावी है (६२५–६२८, ६४०–६४४)

प्रतिक्रमण—निन्दन गर्हण आदि के द्वारा कृत दोषों का शोधन (४३०)

प्रतिलेखन—वस्तु को उठाते-धरते अथवा उठते-बैठते समय उस स्थान को जीव-रक्षा के भाव से अच्छी तरह देखना (४१०)

प्रतिष्ठापना समिति—मल-मूत्र आदि के निक्षेपण या विसर्जन में विवेक-यत्नाचार (४११)

प्रत्यक्षज्ञान—इन्द्रिय व मन से निरपेक्ष केवल आत्मोत्थ ज्ञान (६८६)

प्रत्याख्यान—आगामी दोषों के त्याग का संकल्प (४३६–४३८)

प्रदेश—एक परमाणु-परिमाण आकाश। इसी प्रकार जीवादि सभी द्रव्यों में प्रदेशों की स्थिति (६२०, ६५७)

प्रमत्त—आत्म-स्वभाव के प्रति सुप्त या अजागरूकता (१६२–१६४) अथवा राग-द्वेष-रत (६०१)

प्रमत्त-संयत—साधक की षष्ठम भूमि जहाँ संयम के साथ-साथ मन्द रागादि के रूप में प्रमाद रहता है (५५४)

प्रमाण—संशयादिरहित सम्यग्ज्ञान (६८५)

प्रमाद—आत्म-अजागृति, चारित्र के प्रति अनुत्साह तथा अनादर (सूत्र १३)

प्रमादचर्या—बैठे-बैठे अपने आसन में से सूत या तिनके तोड़ते रहना, पानी का नल खुला छोड़ देना इत्यादि अप्रयोजनीय सावद्य क्रिया (३२१)

प्रमार्जन—वस्तुओं को उठाते-धरते या उठते-बैठते समय उस स्थान को क्षुद्र जीवों की रक्षा के लिए किसी कोमल उपकरण से झाड़ना (४१०)

प्रवचनमाता—मातृवत् रत्नत्रय की रक्षकरूप पंचसमिति और तीन गुप्ति (३८५)

प्राण—मन-वचन-काय रूप तीन बल, पाँच इन्द्रियाँ, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दस प्राण हैं (६४५)

प्रासुक—जीवो के सयोग अथवा सचार से रहित भोजन (४०६), भूमि (५७६), मार्ग (३६६) इत्यादि ।

प्रोषधोपवास—एक बार भोजन करना प्रोषध है और बिलकुल भोजन न करना उपवास । पर्व से पहले दिन सवेरे के समय और उसके अगले दिन सन्ध्या के समय केवल एक-एक बार भोजन करना और पर्ववाले दिन दोनों समय भोजन न करना । इस प्रकार १६ प्रहर तक सर्व आरम्भ का तथा भोजन का त्याग (३२९)

बन्ध—जीव के रागादि परिणामो के निमित्त से, कर्म-जातीय सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओ का जीव के प्रदेशो मे अवस्थित हो जाना (५५६-५५७)

बल—तीन हैं—मन वचन व काय (६४५)

बहिरात्मा—देह को आत्मा माननेवाला मिथ्यादृष्टि (६६)

बाल—अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि (५०, २७२)

बाह्य—क्षेत्र मकान आदि दस प्रकार का परिग्रह (१४४) अनशन आदि छह प्रकार का तप (४४१) देह कृशता-रूप सलेखना (५७४) इत्यादि ।

बोधि—रत्नत्रय (५८०–५८१)

भक्त-प्रत्याख्यान—सलेखनाविधि मे शरीर कृश करने के लिए धीरे-धीरे भोजन त्याग करने की प्रक्रिया-विशेष (५७३)

भंग—स्याद्वाद-न्याय के अनुसार अनेकान्त-रूप वस्तु के जटिल स्वरूप का प्रतिपादन परस्पर विरोधी प्रत्येक धर्म-युगल में सात-सात विकल्प उत्पन्न करके करने की पद्धति (सूत्र ४०)

भय—सात हैं—इहलोक-भय, परलोक-भय, वेदना-भय, मृत्यु-भय, अरक्षा-भय, अगुप्ति-भय और आकस्मिक-भय (२३२)

भव—देह मे देहान्तर की प्राप्ति के रूप मे चतुर्गति-भ्रमण (१८२)

भारण्ड पक्षी—पक्षी-विशेष जिसके एक शरीर मे दो जीव, दो ग्रीवा और तीन पैर होते हैं । जब एक जीव सोता है तब सावधानी के लिए दूसरा जागता रहता है (१६३)

भाव-कर्म—द्रव्य-कर्म की फलदान-शक्ति अथवा उसके उदयवश होनेवाले जीव के रागादिक भाव (६२)

भाव-निक्षेप—विवक्षित पर्याययुक्त वस्तु को ही उस नाम से कहना, जैसे कि राज्यनिष्ठ राजा को राजा कहना (७४३-७४४)

भाव-प्रतिक्रमण—दोष-शुद्धि के लिए किया गया आत्मनिन्दन व ध्यान आदि (४३१–४३२)

भाव-लिंग—साधु का निःसंग तथा निष्कषाय रूप समताभाव (३६३)

भाव-हिंसा—आत्महननस्वरूप रागादि की उत्पत्ति के रूप मे होनेवाली हिंसा (१५३, ३८९–३९२)

भावि नैगमनय—सकल्पमात्र के आधार पर अनिष्पन्न पदार्थ को भी उसी नाम से कहना जैसे कि पाषाण को प्रतिमा कहना (७०३)

भाषा-समिति—बोलचाल विषयक विवेक-यतनाचार (३९१–४०३)

भुवन—तीन हैं—ऊर्ध्व, मध्य व अधो (७)

भूत नैगमनय—सकल्पमात्र के आधार पर गत पदार्थ को वर्तमान में अवस्थित कहना। जैसे 'आज दीपावली के दिन भगवान वीर निर्वाण को प्राप्त हुए' (७०१)

भोग-परिभोग परिमाण-व्रत—भोगलिप्सा को नियन्त्रित करने के लिए भोग तथा परिभोग की वस्तुओं के ग्रहण को सीमित करना (३२५)

मतिज्ञान—दे० आभिनिबोधिक ज्ञान

मद—गर्व आठ हैं—कुल, जाति, लाभ, बल, रूप, ज्ञान, तप, सत्ता (८८, १८७)

मनःपर्यव ज्ञान—दूसरे के मन की बात प्रत्यक्ष जान लेनेवाला ज्ञान (६८२, ६८६)

मनोगुप्ति—मन की प्रवृत्ति का गोपन (४१२)

ममकार—आत्मातिरिक्त देहादि अन्य पदार्थो में मैं-मेरेपन का भाव (१८६, ३८६)

ममत्व—ममकार (७६, १४२)

मल—कर्म स्कंध (५८)

महाव्रत—साधुओं के सर्वदेशव्रत। देखें—व्रत।

माध्यस्थ्य भाव—मोह क्षोभविहीन समता या विश्रान्त भाव (२७४-२७५)

मार्ग—मोक्ष का उपाय (१६२)

मार्गणास्थान—जिन-जिनके द्वारा जीवों का अन्वेषण (खोज) किया जाय, वे सब धर्म १४ हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व, आहारकत्व (१८२, ३६७)

मार्दव—अभिमानरहित मृदु परिणाम, दस धर्मों में से द्वितीय (८८)

मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन—तत्त्वों का अश्रद्धान या विपरीत श्रद्धान और तत्परिणामस्वरूप यथार्थ धर्म में अरुचि। १४ गुणस्थानों में प्रथम (६८, ५४६)

मिश्र—साधक की तृतीय भूमि जिसमें उसका परिणाम दही व गुड के मिश्रित स्वाद की भांति, सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व के मिश्रण जैसा होता है (५५१)

मूर्च्छा—इच्छा या ममत्वभाव मोहान्धता या आसक्ति (३७६, १४२)

मूढता—रूढिगत भेड़चाल की स्वीकृतिरूप मिथ्या अन्ध-विश्वास, जो तीन प्रकार का है—लोकमूढता, देवमूढता, गुरु-मूढता (१८६)

मूर्त—इन्द्रिय-ग्राह्य होने से मात्र पुद्गल द्रव्य (५६५, ६२६)

मोक्ष—सकल कर्मो का नाश हो जाने पर जीव का केवलज्ञानानन्दमय स्वरूप को प्राप्त होकर, देह के छूट जाने पर, ऊर्ध्वगमन स्वभाव के द्वारा ऊपर लोक के अग्रभाग में सदा के लिए स्थित हो जाना (६१४-६२३), मुक्ति या निर्वाण।

मोह—श्रेयाश्रेय विवेक से विहीन भाव अर्थात् मिथ्यादर्शन। यही राग-द्वेष का तथा कर्मबन्ध का मूल है (७१)

मोहनीय—मद्यपान की भाँति श्रेयाश्रेय के विवेक को नष्ट करनेवाला प्रबल कर्म (६६, ६१३)

योग—मन वचन काय की चेष्टा का कारण-भूत अन्तरंग प्रयत्न या वीर्यपरिणाम (६०३)

योनि—जीवों की उत्पत्ति के योग्य ८४ लाख स्थान (३६७)

रत्नत्रय—मोक्षमार्गरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (सूत्र १७)

रस-परित्याग—स्वाद-विजय के लिए घी दूध नमक आदि रसो के त्यागरूप मे एक वाह्यतप (४५०)

राग—इष्ट-विषयो के प्रति प्रीति का भाव (सूत्र ८)

रूक्ष—परमाणु का विकर्पण गुण जो आकर्पण के साथ मिलने पर वन्ध का मूल हेतु होता है (६५२)

रूपस्थध्यान—अनेक विभूति-सम्पन्न अर्हन्त का ध्यान (४९७)

रूपातीतध्यान—केवलज्ञान-शरीरी सिद्ध भगवान् का अथवा तत्सदृश निज शुद्धात्मा का ध्यान (४९७)

लिंग—बुद्धि या अनुमान ज्ञान (१८५), साधु का वाह्याभ्यन्तररूप (सूत्र २४-आ)

लेश्या—मन वचन काय की कपाययुक्त वृत्तियाँ जिनके स्वरूप का कथन कृष्ण नील आदि छह रगो की उपमा द्वारा किया गया है (सूत्र ३१)

लोक—असीम आकाश का मध्यवर्ती वह पुरुपाकार क्षेत्र जिसमे छह द्रव्य अवस्थित हैं (६३६, ६५१)। यह तीन भागो मे विभक्त है—अधोलोक (नरक), मध्यलोक (मनुष्य व तिर्यञ्च) और ऊर्ध्वलोक (स्वर्ग) (देखें पृष्ठ १२०)

लोकाग्र—लोकाकाश का शीर्ष भाग (५६५, ६२१)

लोकान्त—लोक का अन्तिम भाग अर्थात् लोकशिखर (६१४)

वचनगुप्ति—वचन की प्रवृत्ति का गोपन (४१३)

वर्तमान नैगमनय—सकल्पमात्र के आधार पर कोई काम प्रारम्भ करते समय ही उसे 'हो गया' कहना। जैसे भात पकाना प्रारम्भ करते ही कह देना कि 'भात पक गया' (७०२)

विरताविरत—साधक की पचम भूमि जिसमे त्रस-हिंसा आदि स्थूल पापो के प्रति तो विरक्ति हो जाती है, परन्तु स्थावर हिंसा आदि सूक्ष्म पापो से विरति नहीं होती (५५३)

विरागचारित्र या वीतरागचारित्र—वाह्याभ्यन्तर सकल परिग्रह के पूर्ण त्यागरूप निरपवाद उत्सर्ग चारित्र (४२१)

विविक्त शय्यासन—एकान्तवास (४५१)

विशेष—दूसरे की अपेक्षा विसदृश परिणाम, जैसे वाल्यावस्था और वृद्धावस्था परस्पर विसदृश होने से मनुष्य के विशेप धर्म हैं (६६८)

वीरासन—दोनो पैरो को दोनो जघाओ के ऊपर रखना (४५२)

वेदनीय—दुख-सुख की कारणभूत वाह्य सामग्री के सयोग-वियोग मे हेतुरूप कर्म (६६), इसके दो भेद हैं।

वैतरणी—नरक की अति दुर्गन्धित रक्त व मवाद मय नदी (१२२)

वैयावृत्य—रोगी, ग्लान व श्रमित श्रमण आदि की प्रेमपूर्ण सेवा (४७३-४७४)

वृत्ति-परिसंख्यान—अटपटे अभिग्रह लेकर भिक्षाचर्या के लिए निकलना (४४९)

व्यय—द्रव्य मे नित्य होता रहनेवाला पूर्व-पूर्व पर्यायो का नाश (६६६-६६७)

व्यवहार-नय—अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक रसात्मक भाव का गुण-गुणी आदि रूप

विश्लेषण द्वारा भेदोपचार कथन, अथवा अन्य वस्तुओं के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धरूप अभेदोपचार कथन (३५)। जैसे अखण्ड मोक्षमार्ग को सम्यग्दर्शन आदि तीन रूप से कहना (२१४) अथवा दूसरे प्राणी के घात को हिंसा कहना (३८८–३९२)

व्यसन–टेव या बुरी आदतें। जूआ खेलना, पर-स्त्री गमन करना आदि सात व्यसन हैं। अन्य सभी कुटेवों का इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है (३०३)

व्रत–हिंसा आदि पापों से विरति। एकदेश तथा सर्वदेश के भेद से व्रत दो प्रकार का है। एकदेश-व्रत अणुव्रत कहलाता है और सर्वदेश-व्रत महाव्रत (३००) (सूत्र २५)

शब्द-नय–पदार्थों के वाचक शब्दों में ही जिनका व्यापार होता है, वे नय शब्दनय कहलाते हैं, जो तीन प्रकार के हैं–शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं (६९९)। इनमें से प्रथम शब्द-नय लोकशास्त्र में स्वीकृत एकार्थवाची शब्दों में से समान लिंग, कारक आदि-वाले शब्दों को ही एकार्थवाची मानता है, असमान लिंग आदिवालों को नहीं (७०८)

शय्यासन–साधु के बैठने, सोने आदि के उपकरण फलक, पाटा आदि (४७३)

शल्य–कांटे की भांति पीडाकारी माया, मिथ्या व निदान नामक तीन भावरूप पारमार्थिक शल्य (५७७–५७९)

शिक्षाव्रत–श्रमण-धर्म की शिक्षा या अभ्यास में हेतुरूप सामायिक आदि चार-व्रत (३२४)

शील–साधु के अनेक गुण (५५५)

शीलव्रत–श्रावक के पाँच अणुव्रतों के रक्षक तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत (३००)

शुक्ललेश्या–तीन शुभ लेश्याओं में से अन्तिम उत्कृष्ट या शुभतम (५३८, ५४८)

शुद्धभाव–कर्मों के उदय उपशम व क्षय आदि से निरपेक्ष जीव का त्रैकालिक स्वभाव या तत्त्व (१८८, ५९०)

शुद्धोपयोग–ज्ञान व चारित्रयुक्त साधु की, शुभाशुभ भावों से निरपेक्ष, केवल आत्मा के शुद्धस्वभाव में अवस्थिति अथवा मोह क्षोभ विहीन साम्यभाव (२७४–२७६)

शौच–लोभ व तृष्णारहित सन्तोषभाव दस धर्मों में से एक (१००)

श्रमण–मोक्षमार्ग में श्रम करने के कारण समताधारी (३४१) निर्ग्रन्थ तथा वीतरागी (४२१), संयतजन (३३६) (सूत्र २४)

श्रमण-धर्म–इसमें ध्यानाध्ययन की प्रमुखता होती है। (२९७) (सूत्र २४)

श्रावक–गुरुमुख से धर्मोपदेश सुननेवाला धर्मात्मा अविरत या अणुव्रती गृहस्थ (३०१)

श्रावक-धर्म–इसमें दया, दान, भक्ति, विनय आदि की प्रमुखता होती है (२९७) (विशेष दे० सूत्र २३)

श्रुत–शास्त्र या आगम (१७४)

श्रुतज्ञान–धुंआ देखकर अग्नि को जानने की भांति अर्थ से अर्थान्तर का ग्रहण करने-वाला मन व इन्द्रियों की सहायता से होनेवाला परोक्षज्ञान। वाचक से

वाच्यार्थ को ग्रहण करनेवाला शब्द-लिंगज ज्ञान। (६७८)

षड्—१. आभ्यन्तर तप, २. आवश्यक, ३. जीवकाय, ४. द्रव्य, ५. वाह्यतप, ६. लेश्या, ७. स्कन्ध ये सब छह-छह हैं।

संग—देहसहित समस्त वाह्याभ्यन्तर परिग्रह (३६३, १४३-१४४)

संग्रहनय—लोकस्थित समस्त जड़-चेतन द्रव्यों में अस्तित्व सामान्य की अपेक्षा एकत्व की, अथवा प्रत्येक जाति के अनेक द्रव्यों में उस जाति की अपेक्षा एकत्व की दृष्टि (७०४)

संघ—रत्नत्रय आदि अनेक गुणों से युक्त श्रमणों का समुदाय (सूत्र ३)

संज्ञा—इन्द्रिय ज्ञान (६७७) अथवा आहार भय मैथुन निद्रा परिग्रह आदि की वासनाएँ।

संयम—व्रत समिति आदि का पालन, मन, वचन, काय का नियन्त्रण; इन्द्रिय-जय, और कषाय निग्रह आदि सब भाव (१०१) (सूत्र १०)

संरम्भ—कार्य करने की प्रयत्नशीलता (४१२–४१४)

संवर—सम्यक्त्वादि द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रोकना (६०५–६०८)

संवेग—धर्म के प्रति अनुराग (७७)

संशय-मिथ्यात्व—तत्त्वों के स्वरूप में 'ऐसा है या ऐसा है' के सन्देह में रहना (५४९)

संसार—जन्म-मरणरूप संसरण (५२–५४)

संसार-अनुप्रेक्षा—वैराग्य-वृद्धि के लिए संसार में जन्म-मरणरूप भय देखते हुए इससे मुक्त होने की भावना का पुनः पुनः चिन्तवन (५२४)

संस्तर—संलेखनाधारी साधु के लिए झाड़-वुहारकर तैयार की गयी निर्जन्तु भूमि अथवा घास का विछौना (५७६)

संस्थान—शरीर तथा अन्य पुद्गल-स्कन्धों के विविध आकार (१८३, ६५३)

संहनन—देहस्थित अस्थियों के दृढ़ या कमजोर वन्धन तथा जोड़ आदि। यह छह प्रकार का है (१८३)

सप्त—१. तत्त्व, २. नय, ३. भंग, ४. भय, ५. व्यसन, ६. समुद्घात सब सात-सात है।

समता—सुख-दुःख शत्रु-मित्र आदि द्वन्द्वों में समान रहनेवाला वीतरागियों का मोह क्षोभविहीन परिणाम (२७९, ३४९, २७४)

समभिरूढ-नय—तीन शब्द नयों में से द्वितीय, जो प्रथम नय के द्वारा स्वीकृत समान लिंग आदिवाले एकार्थवाची शब्दों में भी अर्थभेद मानता है (७११)

समय—आत्मा (२६), धर्म पंथ या मत (२३)

समयसार—सर्व विकल्पों से अतीत आत्मा का शुद्ध स्वभाव (२१४) (दे० शुद्ध भाव)

समाधि—आत्मा का निर्विकल्प ध्यान (४२६) अथवा शास्त्राध्ययन में तल्लीनता (१७४)

समारम्भ—कार्य प्रारम्भ करने के लिए साधन जुटाना (४१२–४१४)

समिति—यतनाचारपूर्वक प्रवृत्ति (३८६–३८८), (विशेष दे० सूत्र २६)

समुद्घात—वेदना आदि के निमित्त से, देह में संकुचित आत्मा के कुछ प्रदेशों का देह

से बाहर निकलकर फैल जाना। यह सात प्रकार का होता है (६४६)

सम्यक्त्व–दे० सम्यग्दर्शन

सम्यक्चारित्र–व्रत-समिति आदि का पालन व्यवहार-चारित्र है (२६३) और निजस्वरूप में स्थितिस्वरूप (२६८) मोह-क्षोभविहीन समता या प्रशान्त भाव निश्चय-चारित्र है (२७४)

सम्यक्मिथ्यात्व–दे० मिश्र

सम्यग्ज्ञान–सम्यग्दर्शन-युक्त शास्त्रज्ञान व्यवहार-सम्यग्ज्ञान (२०८, २४५) और रागादि की निवृत्ति में प्रेरक शुद्धात्मा का ज्ञान निश्चय-सम्यग्ज्ञान (२५०–२५५)

सम्यग्दर्शन–सप्त-तत्त्व का श्रद्धान व्यवहार-सम्यग्दर्शन और आत्मरुचि निश्चय सम्यग्दर्शन (२२०-२२१)

सयोगी-केवली–साधक की तेरहवीं भूमि जहाँ पूर्णकाम हो जाने पर भी देह शेष रहने से प्रवृत्ति बनी रहती है। अर्हन्त या जीवन्मुक्त अवस्था (५६२-५६३)

सराग-चारित्र–व्रत समिति गुप्ति आदि का धारण व पालन होने पर भी, राग भाव के कारण, जिस चारित्र में आहार तथा योग्य उपाधि के ग्रहणस्वरूप कुछ अपवाद स्वीकार कर लिया जाता है। निश्चय चारित्र का साधन। (२८०)

संलेखना–संयम की सामर्थ्य न रहने पर, देह का युक्त विधि से समतापूर्वक त्याग करना (सूत्र ३३)

सामाचारी–धर्मोपदेश (३०१)। सामाचारी दस हैं।

सामान्य–अनेक विसदृश पदार्थों में एक सदृश परिणाम, जैसे कि बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था में मनुष्यत्व (६६७-६६८)

सामायिक–पापारम्भवाले समस्त कार्यों से निवृत्ति व्यवहार सामायिक है। (४२७) और तृण कंचन आदि में (४२५) अथवा सर्वभूतों में समभाव (४२८) निश्चय सामायिक है।

सावद्य–प्राणी-पीड़ाकारी प्रवृत्ति, भाषा तथा कार्य (३२६, ३६१, ४२७)

सासादन–साधक की द्वितीय भूमि। इसकी प्राप्ति एक क्षण के लिए उस समय होती है जब साधक कर्मोदय-वश सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व-अभिमुख होता है, परन्तु साक्षात् मिथ्यात्वावस्था में प्रविष्ट नहीं हो पाता (५५०)

सिक्थ–भात का कण या चावल (४४८)

सिद्ध–१४ भूमियों का अतिक्रम कर लेने पर आठों कर्मों का नाश हो जाने से अष्ट गुणों की प्राप्ति के फलस्वरूप देह छोड़कर लोक के शिखर पर जानेवाला (५६६)

सिद्धि–मोक्ष-प्राप्ति (६२१)

सुनय–अपेक्षावाद के द्वारा विरोधी-धर्म का समन्वय करनेवाली निष्पक्ष दृष्टि (७२५)

सूक्ष्म-कषाय–दे० सूक्ष्म साम्पराय

सूक्ष्म-सराग–दे० सूक्ष्म साम्पराय

सूक्ष्म साम्पराय–साधक की दसवीं भूमि जहाँ सब कषाएँ उपशान्त या क्षीण हो जाने पर भी, लोभ या राग का कोई सूक्ष्म लव जीवित रहता है। (५५६)

स्कन्ध–दो या अधिक परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न, द्व्यणुक आदि छह प्रकार के सूक्ष्म-स्थूल भौतिक तत्त्व (६६०-६६१, ६४८–६५०)

स्त्री–तीन प्रकार की—मनुष्यणी, तिर्यञ्चिनी और देवी (३७४)

स्थापना-निक्षेप–किसी पुरुष या पदार्थ के चित्र को, प्रतिमा को अथवा किसी पदार्थ में कल्पित आकार को 'यह वही है' ऐसा मानकर विनय आदि रूप व्यवहार करना (७४०)

स्थावर–पृथिवी, अप, तेज, वायु और वनस्पति इन पांच कायोवाले एकेन्द्रिय जीव (६५०)

स्थितिकरण–किसी कारणवश अधर्ममार्ग में प्रवृत्त हो जाने पर अपने को या साधर्मी बन्धु को विवेकपूर्वक धर्ममार्ग में पुन आरूढ़ करना (२४०-२४१)

स्निग्ध–परमाणु का आकर्षण गुण जो विकर्षण का योग पाकर बन्ध का हेतु हो जाता है (६५२)

स्यात्–'ऐसा ही है', ऐसे एकान्त हठ का निषेध करके 'कथञ्चित् ऐसा भी है' इस प्रकार का समन्वय स्थापित करनेवाला एक निपात (७१५)

स्याद्वाद–'स्यात्' पदयुक्त वाक्य द्वारा, वस्तु के जटिल स्वरूप का विवेचक समन्वयकारी न्याय (सूत्र ४०)

स्व-द्रव्य–शुद्ध-आत्मा (५८७)

स्व-समय–शुद्ध आत्मा में ही अपनत्व का द्रष्टा सम्यग्दृष्टि स्व-समय है (२७१), स्व-मत (२३, ७३५), परस्पर विरोधी मतों का युक्तिपूर्ण समन्वय, साधक का निष्पक्ष भाव (७२६)

स्वाध्याय–शास्त्राध्ययनरूप तप, जो पांच प्रकार का है (४७५)

हिंसा–जीव-वध या प्राणातिपात व्यवहार-हिंसा है (३८९) और रागादि की उत्पत्ति (१५३) अथवा अयतनाचार-रूप प्रमाद (१५७) निश्चय हिंसा है।

हिंसादान–प्राणि-पीडाकारी या वधकारी उपकरण (फरसा, कुदाली, चूहेदानी आदि) का लेन-देन (३२१)